महामुनिश्रीपतञ्जलिविरचितम्

महाभाष्यम्

(पस्पशाह्निकम्)

अनुवादक एवं व्याख्याकार

रमण कुमार शर्मा

ईस्टर्न बुक लिंकर्स

: दिल्ली :

महामुनिश्रीपतञ्जलिविरचितम्

महाभाष्यम्

(पस्पशाह्निकम्)

अनुवादक एवं व्याख्याकार

रमण कुमार शर्मा

ईस्टर्न बुक लिंकर्स

: दिल्ली :

निवेदनम्

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः ।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः ॥

रमण कुमार शर्मा

विषयसूची

१. पतञ्जलि, महाभाष्य और पस्पशाह्निक ७

२. पस्पशाह्निकम् —प्रदीप-भाष्यानुवाद-उषा-व्याख्या-संवलितम्— १-८०

१. अथ शब्दानुशासनम् १

२. गौरित्यत्र कः शब्दः ३

३. शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि ६

४. शास्त्रस्याधिकारी २७

५. शास्त्रप्रारम्भविधिः २८

६. किं पुनराकृतिः पदार्थ आहोस्विद् द्रव्यम् ३३

७. सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे ३६

८. द्रव्यः पदार्थः ४२

९. आकृतिः पदार्थः ४४

१०. लोकस्य प्रामाण्यम् ४६

११. लोकतः अर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः ४७

१२. अस्त्यप्रयुक्तः ५१

१३. शब्दस्य ज्ञाने धर्म आहोस्वित्प्रयोगे ५६

१४. व्याकरणमित्यस्य शब्दस्य पदार्थः ६२

१५. किमर्थो वर्णानामुपदेशः ७०

भूमिका

पतञ्जलि, महाभाष्य और पस्पशाह्निक

प्रक्रियात्मक और दार्शनिक इन दोनों ही पक्षों में समान गति होने के कारण व्याकरण समस्त ज्ञान शाखाओं में विशिष्ट है। सूक्ष्म रूप से यदि विचार किया जाये तो व्याकरणशास्त्र के इन दोनों ही पक्षों के मूल को एक ही वैदिक वाक्य "दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः"[1] में ढूंढा जा सकता है। वाणी के चार भागों की कल्पना वैदिक ऋषि के चिन्तन की पराकाष्ठा है।[2] वेद का यही वाक्तत्त्व ब्राह्मण ग्रन्थों में व्याख्यात होकर पुनः औपनिषदिक विवेचन का आधार बना। गोपथब्राह्मण में[3] शब्द के प्रकृतिप्रत्यय विभाग के सम्बन्ध में "ओंकारं पृच्छामः। को धातुः, किं प्रातिपदिकं, किं नामाख्यातं, किं लिङ्गं, किं वचनं, का विभक्तिः, कः प्रत्ययः इति" इस प्रकार के अनेक प्रश्न उठाये गये हैं। इन समस्त प्रश्नों का समाधान भी किया गया। विषय के विशेषज्ञ वैयाकरण आचार्य इस समय तक प्रसिद्ध हो गये थे, इसका उल्लेख भी यहीं मिलता है[4]—"आख्यातोपसर्गानुदात्तस्वरितलिङ्गविभक्तिवचनानि च संस्थानाध्यायिन आचार्याः पूर्वे बभूवुः।" पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन में अनेक वैयाकरणाचार्यों का उल्लेख किया है। स्वयं महाभाष्य में भी ऐन्द्र व्याकरण की ओर संकेत है जिसमें प्रतिपदपाठ की पद्धति से शब्दानुशासन किया गया था।[5]

इस पूर्ववर्ती व्याकरणपरम्परा को उपजीव्य बनाकर महावैयाकरण पाणिनि ने पदसाधुत्व के हेतु अष्टाध्यायी के रूप में सूत्र ग्रन्थ का निर्माण कर वैदिक भाषा को संस्कृत किया। अनेक वैयाकरणों ने इन सूत्रों पर वार्त्तिकों का निर्माण किया। वार्त्तिककारों में कात्यायन सर्वप्रमुख हैं। सुनाग का नाम भी वार्त्तिककार के रूप में उपलब्ध होता है। पतञ्जलि का महाभाष्य इन्हीं वार्त्तिकों

---

१. यजुर्वेद १९.१७

२.(क) चत्वारि वाक् परिमिता पदानि। —ऋग्वेद १।१६४।४५

(ख) चत्वारि शृङ्गा० ऋग्वेद ४।५८।३ इस मन्त्र पर महाभाष्य का व्याख्यान।

३. गोपथब्राह्मण, प्रथम प्रपाठक १।२४

४. वही १।२७

५. बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां पारायणं प्रोवाच···। बृहस्पतिश्च प्रवक्ता, इन्द्रश्चाध्येता···। —महाभाष्यम्, पस्पशाह्निकम्।

पर एक बृहद् व्याख्यान है, जिसे वस्तुतः पाणिनि व्याकरण के उत्कर्ष का चरम कहा जा सकता है। दर्शन से नितान्त अस्पृष्ट अष्टाध्यायी के सूत्रों में दार्शनिकता की गन्ध ढूंढकर उनका नये ढंग से व्याख्यान किया गया। भर्तृहरि ने इसे संग्रह प्रतिकञ्चुक कहा है जो इस बात का प्रतीक है कि यह संग्रह के समान व्याकरण का दार्शनिक ग्रन्थ है। भाषा की दृष्टि से सरल होने पर भी यह भावगाम्भीर्य के कारण दुर्बोध है। अपने प्रौढ पाण्डित्य, गम्भीर अर्थविवेचना और व्यापक दृष्टि के कारण यह भाष्य ही नहीं, महाभाष्य कहा जाता है। इस प्रसङ्ग में भर्तृहरि के—

कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना।
सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने ॥ वाक्य २।४८५.

इस कथन पर पुण्यराज की यह टिप्पणी विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है—
"तच्च भाष्यं न केवलं व्याकरणस्य निबन्धनं यावत्सर्वेषां न्यायबीजानां बोद्धव्यमित्यत एव सर्वन्यायबीजहेतुत्वादेव महच्छब्देन विशिष्य महाभाष्यमित्युच्यते लोके।" कैय्यट की भी इस विषय में स्पष्ट उक्ति है—

पाणिनीयव्याख्यानभूतत्वेऽपि इष्ट्यादिकथनेन अन्वाख्यातृत्वादस्य इतरभाष्यवैलक्षण्येन महत्त्वम् ॥

खण्डनमण्डनात्मक शैली में वार्त्तिककारों के मतों का सूक्ष्म परीक्षण करते हुए व्याख्यानमुखेन व्याकरण के दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के साथ-साथ विभिन्न शास्त्रों के सिद्धान्तों का भी यथास्थान निवेश हो गया है। यह भी इस भाष्य के महद् विशेषण का हेतु है। इसी ग्रन्थ में बीज रूप से निर्दिष्ट विशेषण के आधार पर आगे चलकर भर्तृहरि ने व्याकरण को दर्शनत्व की उच्च भूमि पर आरूढ़ किया तथा नागेश और उसके टीकाकारों ने आगे चलकर इसे नव्यन्याय की शैली पर प्रतिष्ठापित करने का गौरव प्राप्त किया किन्तु पतञ्जलि का वैशिष्ट्य फिर भी बना रहा क्योंकि सरल से सरल भाषा में अत्यन्त दुरूह विषय को भी संवादमयी सहज शैली में प्रस्तुत कर पाना पतञ्जलि के द्वारा ही सम्भव है। स्थान स्थान पर प्रयुक्त होने वाली सूक्तियाँ और कहावतें भाषा और भावों को भी जीवन्तता प्रदान करती हैं। "यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्" की कल्पना ने इनके महत्त्व को और भी बढ़ा दिया जहाँ सूत्रकार और वार्त्तिककार की भी अपेक्षा से भाष्यकार का मत अधिक प्रशस्त माना जाता है।

लोकव्यवहार में प्रचलित प्रयोगों को शास्त्र की सीमाओं में बाँधने के लिए पतञ्जलि ने इष्टियों का निर्माण किया। प्रकारान्तर से यह इस बात का भी प्रतीक है कि पतञ्जलि शास्त्र की अपेक्षा लोक को ही अधिक महत्त्व देते थे। वैयाकरण तथा सूत के संवाद में जहाँ प्राप्ति और इष्टि की बात को उठाकर

इष्टि को अधिक महत्त्वपूर्ण कहा गया है, वह प्रसङ्ग भी इसी तथ्य को पुष्ट करता है। पतञ्जलि की यह मान्यता पश्चाद्वर्ती वैयाकरणों में भी इसी रूप में स्वीकार हुई। महाकवि श्रीहर्ष ने भी इस बात को समर्थन देते हुए कहा है कि शश से युक्त पदार्थ को शशी मानकर भी तदनुरूप मृग से युक्त पदार्थ को मृगी नहीं कहा जाता क्योंकि यह प्रयोग लोक व्यवहार में स्वीकार्य नहीं हुआ—

भङ्क्तुं प्रभुर्व्याकरणस्य दर्पं पदप्रयोगाध्वनि लोक एषः।
शशो यदस्यास्ति शशी ततोऽयमेवं मृगोऽस्यास्ति मृगीति नोक्तः॥
नैषध०-२२।८४.

वाक्यपदीयकार के अनुसार कालान्तर में पतञ्जलि के शिष्यों बैजि, सौभव और हर्यक्ष ने शुष्क तर्कपद्धति का आश्रय लेकर इस ग्रन्थ के महत्त्व को घटा दिया,[६] जिससे यह एक लम्बे समय तक लुप्त प्राय ही रहा। केवल ग्रन्थ रूप में यह अस्तव्यस्त रूप में अवशिष्ट रहा। भर्तृहरि और कल्हण[७] दोनों ने चन्द्राचार्य को महाभाष्य का उद्धारक माना है। उसके बाद भर्तृहरि ने महाभाष्य पर 'त्रिपदी' नाम की टीका लिखी। कैयट ने अपने महाभाष्य प्रदीप पर त्रिपदी का प्रभाव स्वयं स्वीकार किया है। प्रदीप पर नागेशभट्ट ने उद्योत नाम का व्याख्यान लिखा। प्रदीपोद्योत पर वैद्यनाथ पायगुण्डे की छाया नाम की व्याख्या भी उपलब्ध होती है जिस पर काशी विश्वविद्यालय के व्याकरणाचार्य पं० रुद्रधर झा ने १९५४ में 'तत्त्वालोक' नाम की टीका लिखी है।

सम्पूर्ण महाभाष्य कुल ८५ आह्निकों में विभक्त है। 'आह्निक' शब्द का अर्थ है—एक दिन में अधीत अंश। ग्रन्थ की शैली भी इसी प्रकार की है मानों गुरु अपने शिष्यों को विद्याभ्यास करवा रहा हो। व्याकरण शास्त्र के मूल सिद्धान्तों को सरलतम रूप में हृदयङ्गम कराने की दृष्टि से यह शैली अत्यन्त आकर्षक, रोचक तथा उपयुक्त है।

पस्पशाह्निक इस विशाल ग्रन्थ का प्रथम आह्निक है जिसे वस्तुतः सम्पूर्ण ग्रन्थ की प्रस्तावना कहा जा सकता है। 'पस्पश' शब्द प्रारम्भ अथवा उपोद्घात के अर्थ में प्रयुक्त होता है। माघ के 'शिशुपालवधम्' में यह शब्द गुप्तचर के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है जहाँ श्लेष की सहायता से गुप्तचरों के बिना राज्य की श्रीहीनता की उपमा पस्पशाह्निक के बिना शब्दविद्या की शोभाहीनता से की गई है—"शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा।" एवं च प्रकारान्तर से महाकाव्य का यह प्रसङ्ग पस्पशाह्निक के महत्त्व को भी स्पष्ट कर पाने में कृतकार्य हुआ है।

---

६. वैजिसौभवहर्यक्षैः शुष्कतर्कानुसारिभिः।
आर्षे विप्लाविते ग्रन्थे सङ्ग्रहप्रतिकञ्चुके॥ —वाक्य० २।४८७

७. राजतरङ्गिणी १।१७५

पस्पशा शब्द का महाकाव्यसम्मत अर्थ भी पस्पशाह्निक पर इस रूप में चरितार्थ हो जाता है कि यहाँ भी वस्तुतः व्याकरणदर्शन के अनेक निगूढ़ प्रश्नों पर विचार प्रस्तुत किया गया है।

व्याकरणशास्त्र लौकिक और वैदिक उभयविध शब्दों के साधुत्व का अनुशासन करता है, अतः सर्वप्रथम शब्दस्वरूप पर विचार किया गया है। अखण्ड और नित्य स्फोटरूप शब्दब्रह्म की संसिद्धि वैयाकरणों को अभीष्ट है। इसी मत की स्थापना के निमित्त ही द्रव्य, गुण, क्रिया और जातिशब्दवादियों के सिद्धान्त को पूर्वपक्ष के रूप में स्थापित कर उनका प्रत्याख्यान किया गया है। वह नित्य तत्त्व जो ध्वनि से व्यक्त होता है तथा उच्चरित होने पर तत्तदर्थ का बोध करवाता है। वैयाकरणों की दृष्टि में शब्द है। इसे ही स्फोट का नाम दिया गया है। यद्यपि लोकव्यवहार की दृष्टि से ध्वनि में भी पतञ्जलि ने शब्दत्व स्वीकार किया ही है। इन्हीं ध्वनि-रूप शब्दों का साधुत्व प्रतिपादन ही व्याकरणशास्त्र का विषय है।

तदनन्तर व्याकरणशास्त्र अथवा व्याकरणाध्ययन के मुख्य एवं गौण प्रयोजनों का अन्वाख्यान किया गया है। वेदों की रक्षा के लिए तो व्याकरणाध्ययन अनिवार्य है ही, आगम (शास्त्र) भी व्याकरणाध्ययन का प्रयोजक है—

रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्।

आगमः खल्वपि। ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च।

इस विवेचन में पतञ्जलि के वेदविषयक पाण्डित्य का परिचय भी उपलब्ध होता है, जहाँ अनेक वैदिक मन्त्रों को उद्धृत करके उनका व्याख्यान किया गया है। "चत्वारि शृङ्गा०" इत्यादि मन्त्र का शब्दब्रह्म को लक्ष्य करके पतञ्जलि ने मौलिक व्याख्यान प्रस्तुत किया है। इससे पूर्व यास्क ने इसी मन्त्र को यज्ञपुरुष के रूप में व्याख्यात किया था। बाद में राजशेखर ने इसी मन्त्र की सहायता से काव्यपुरुष के शरीर का निर्माण किया।

शब्दों का साधुत्वप्रतिपादन शब्दानुशासन शास्त्र का विषय है, "रक्षोहागम-लध्वसन्देहाः" इसके प्रयोजन। अधिकारी का निर्देश तेभ्य एव विप्रतिपन्न-बुद्धिभ्योऽध्येतृभ्यः सुहृद्भूत्वाऽऽचार्य इदं शास्त्रमन्वाचष्टे, इस वाक्य के द्वारा हुआ है। प्रमेय रूप शब्दज्ञान तथा साधन रूप शब्दानुशासन में परस्पर बोध्यबोधकभाव सम्बन्ध है।

शास्त्र का विषयभूत यह शब्दोपदेश साधु शब्दों, असाधु शब्दों तथा साधु और असाधु उभयविध शब्दों के उपदेश को लेकर भी किया जा सकता है। उभयविध शब्दोपदेश की पद्धति में स्पष्टता और सरलता होते हुए भी यह गौरव दोष से दूषित है, अतः इसे स्वीकार नहीं किया गया। अपशब्दोपदेश से भी साधु शब्दों का का अनुमान किया जा सकता है। गावी, गोणी इत्यादि समस्त असाधु शब्दरूपों को एक स्थान पर उल्लिखित देखकर उनसे व्यतिरिक्त एक साधु शब्द तक पहुँचाया

अवश्य जा सकता है परन्तु यह पद्धति अपेक्षाकृत गुरु तो है ही, इससे शास्त्र अनिष्टानुशासन के दोष से दूषित हो जाता है, यद्यपि अपशब्द के ज्ञान से अधर्म प्राप्ति का निषेध आगे चलकर स्वयं भाष्यकार ने भी किया ही है। अपि च, विषय का सरल और स्पष्ट प्रतिपादन इस पद्धति से सम्भव नहीं, क्योंकि विभिन्न देशों और विभिन्न कालों में प्राप्य अपभ्रष्ट शब्दों की सूची को देखकर एक साधु शब्द के अन्वेषण में पुनः प्रयास करना ही पड़ेगा। अतः उत्सर्ग और अपवात की रीति से सामान्य और विशेष लक्षण से युक्त केवल साधु शब्दप्रतिपादन के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। भर्तृहरि ने ब्रह्मकाण्ड में यही बात कही है—

> धर्मे ये प्रत्यये चाङ्गं सम्बन्धाः साध्वसाधुषु। १।२५.
>
> ते लिङ्गैश्च स्वशब्दैश्च शास्त्रेऽस्मिन्नुषवर्णिताः।
>
> स्मृत्यर्थमनुगम्यन्ते केचिदेव यथाक्रमम्॥ १।२६.

शब्द का अर्थ आकृति भी है और द्रव्य भी। पाणिनि ने इन दोनों को ही लक्ष्य करके सूत्रों का निर्माण किया है, क्योंकि किसी एक पक्ष को अङ्गीकार करने से व्याकरणशास्त्र में सर्वत्र व्यवस्था नहीं हो सकती। जाति को पदार्थ मानकर 'जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्' और व्यक्ति को पदार्थ मानकर सरूपाणमेकशेष एकविभक्तौ इत्यादि सूत्रों का उपदेश किया गया है। परन्तु जाति जहाँ पदार्थ होती है वहाँ जाति का क्रिया में अन्वय न हो सकने के कारण व्यक्ति का जाति द्वारा बोध होता है और जहाँ व्यक्तिपरक निर्देश होता है वहाँ जाति का उपलक्षक के रूप में बोध होता है।

मीमांसा और न्याय में शब्द पर स्थूल दृष्टि से विचार किया गया है। मीमांसक की दृष्टि में पद और वाक्य सब वर्णरूप ही हैं, अतः शब्द वर्णात्मक और नित्य है। न्यायदर्शन को तो इसकी नित्यता भी स्वीकार नहीं, क्योंकि यह श्रूयमाण ध्वनि को ही शब्द मानता है। पतञ्जलि ने शब्दनित्यत्व और अनित्यत्व के प्रश्न को व्याडिप्रमाण कहकर छोड़ दिया है यद्यपि पाणिनि का शास्त्र शब्दनित्यत्व की स्थिति को ही स्वीकार करके चलता है व्याडिकृत संग्रह नामक ग्रन्थ में यह सिद्ध किया गया है कि शब्द को चाहे नित्य माना जाये अथवा अनित्य, दोनों ही परिस्थितियों में शब्दानुशासन अनिवार्य है। पतञ्जलि के इस कथन से उनकी व्याडि के प्रामाण्यक विषय में भूयसी आस्था अभिव्यक्त होती है। यह व्याडि व्याकरण के दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रतिपादक 'संग्रह' नामक ग्रन्थ के प्रणेता थे। उनका यह ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं होता। यत्र-तत्र प्राप्त होने वाले कुछ उद्धरणों को एकत्र करके युधिष्ठिर मीमांसक ने उनका सम्पादन किया है। भर्तृहरि के अनुसार उन्होंने १४

सहस्र वस्तुओं पर विचार किया था। द्रव्याभिधानवाद,[८] वाक्यार्थवाद,[९] शब्दप्रकृति-अपभ्रंशवाद और नित्यशब्दत्ववाद व्याडि के मुख्य सिद्धान्त हैं।

शब्द, अर्थ और उसके सम्बन्ध की नित्यता का ज्ञान लोकव्यवहार से होता है। इसके समर्थन में पतञ्जलि ने एक सुन्दर आख्यान प्रस्तुत करते हुए कहा है कि घट प्रयोग की इच्छा करने वाला व्यक्ति जिस प्रकार से कुम्भकार के पास जाकर घट का क्रय कर लेता है, उसी प्रकार से कोई शब्द प्रयोग के लिए वैयाकरण के पास शब्द का क्रय करने नहीं जाता। लोकव्यवहार से ही शब्दार्थसम्बन्धों की नित्यता सिद्ध होने पर भी शास्त्र के द्वारा उनका धर्मनियमन किया जाता है।

शब्दों का साधुत्व व्यवहार के आश्रित है अतः अन्वय-व्यतिरेक से जो शब्द लोक में व्यवहृत नहीं होते, उनमें स्वतः ही असाधुत्व आ जाता है, परन्तु शास्त्र में अनेक ऐसे शब्दों का भी अनुशासन होता है जो लोक व्यवहार में प्रचलित नहीं हैं, अतः असाधु (लोक में अप्रचलित) शब्द का अनुशासन करने से शास्त्र अनिष्टानुशासन से दूषित हो जायेगा परन्तु दीर्घकालीन शतवार्षिक और सहस्रवार्षिक यज्ञों के समान इन शब्दों का अनुशासन भी धर्म मानकर अवश्यंकर्त्तव्य है। जिस प्रकार से आज इन दीर्घकालीन यज्ञों को कोई नहीं कर सकता किन्तु फिर भी शास्त्र से उनका विधान होता ही है, उसी प्रकार से अप्रयुक्त होने पर भी इनका अनुशासन दोषयुक्त नहीं है, प्रत्युत आवश्यक है। और फिर शब्द प्रयोग के महान् विषयक्षेत्र को अनदेखा करके किसी शब्द जो अप्रयुक्त नहीं कहा जा सकता। अतः शास्त्र में इस दोष की प्रसक्ति की सम्भावना नहीं की जा सकती।

साधु शब्द अभ्युदय का हेतु है। असुर "हेलयो हेलयः" इस प्रकार कहते हुए पराभव को प्राप्त हुए, यह इस बात का प्रतीक है कि केवल ज्ञानमात्र से नहीं प्रत्युत साधु शब्द के प्रयोग से ही धर्म की प्राप्ति होती है किन्तु व्यवहार में यह धर्मनियमन केवल याज्ञिक क्रियाओं में ही लागू होता है। यर्वाणः, तर्वाणः नामक ऋषियों का प्रसङ्ग इस बात को पुष्ट करता है, जो 'यद्वानः,' 'तद्वानः' इन शब्दों के स्थान पर असाधु यर्वाणः, तर्वाणः शब्दों का प्रयोग किया करते थे और इसीलिए उनका नाम भी यर्वाणः, तर्वाणः पड़ गया था परन्तु याज्ञिक क्रियाओं में शुद्ध उच्चारण करने के कारण वे दूषित नहीं हुए। तथापि सिद्धान्त रूप में श्रुति का अनुसरण करते हुए

---

८. (क) द्रव्याभिधानं व्याडिः। —महाभाष्य १।२।६४

(ख) वाजप्यायनस्याकृतिः। व्याडेस्तु द्रव्यम्। महाभाष्यदीपिका, पृ० ११

९. न हि किञ्चित्पदं नामरूपेण नियतं क्वचित्।
पदानां रूपमर्थो वा वाक्यार्थादेव जायते॥
—वाक्य० १।२४ की हरिवृत्ति में उद्धृत।

१०. शब्दप्रकृतिरपभ्रंश इति संग्रहकारः। —वाक्य १।१४८ की हरिवृत्ति में।

ज्ञानपूर्वक साधु शब्द के प्रयोग का पक्ष भाष्यकार को अभिमत है। **"योऽग्निष्टोमेन यजते य उ चैनमेवं वेद"** तथा **"योऽग्निं नाचिकेतं चिनुते य उ चैनमेवं वेद"** इत्यादि श्रुतियाँ भी शास्त्र ज्ञानपूर्वक साधु शब्द के प्रयोग में धर्म का नियमन करती हैं। अथवा ज्ञानमात्र से भी धर्मप्राप्ति की बात इसलिए स्वीकार्य हो सकती है कि अपशब्दज्ञान भी वस्तुतः शब्दज्ञान का एक उपाय ही है यद्यपि पाणिनीय तन्त्र में इस पद्धति को नहीं अपनाया गया। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि कूपखनन में जिस प्रकार से व्यक्ति पहले मृत्तिका से लिप्त होकर पश्चात् स्वच्छ जल में स्नान कर पवित्र हो जाता है, उसी प्रकार अपशब्दज्ञान के अधर्म से दूषित हुआ व्यक्ति साधु शब्दज्ञान के पुण्य को प्राप्त कर पुनः उस दोष से मुक्त होकर अभ्युदय को प्राप्त कर सकता है। और फिर व्याकरणदर्शन तो शब्दप्रमाणवादी दर्शन है। आगम साधु शब्द के ज्ञान से धर्मप्राप्ति का निर्देश तो अवश्य करता है, अपशब्द से अधर्म प्राप्ति की बात वहाँ नहीं कही गई—**शब्दश्च शब्दज्ञाने धर्ममाह नापशब्दज्ञानेऽधर्मम्।**

इसके अनन्तर व्याकरण शब्द के पदार्थ पर विचार किया गया है। सिद्धान्ती के अनुसार लक्ष्य अर्थ और लक्षण सूत्र दोनों की युगपत् व्याकरण-संज्ञा है—**लक्ष्य लक्षणे व्याकरणम्।** समुदाय में प्रवृत्त होने वाले शब्द उसके अवयवों में प्रयुक्त होते हुए लोक में देखे जाते हैं, अत एव केवल सूत्रों का अध्ययन करने वाले व्यक्ति को भी 'वैयाकरण' कहते हैं। अथवा केवल सूत्र में भी व्याकरणत्व उत्पन्न हो सकता है और इस पक्ष में **व्याकरणस्य सूत्रम्** इत्यादि प्रयोग **राहोः शिरः** आदि प्रयोगों के समान व्यपदिष्ट माने जा सकते हैं। परन्तु केवल शब्द में व्याकरणत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि ऐसा मानने पर भव और प्रोक्तादि अर्थों में तद्धित प्रत्यय निष्पन्न नहीं हो पायेंगे।

इस सूत्ररूप व्याकरणशास्त्र में लाघव से प्रवृत्ति के लिए प्रारम्भ में वर्णों का उपदेश किया गया है यद्यपि साक्षात् किसी साधु शब्द का अनुशासन इससे नहीं होता। इसके अतिरिक्त अनुबन्धों का बोधन तथा इष्ट वर्णों का उपदेश भी वर्णोपदेश के प्रयोजन हैं। इष्ट वर्णों के विशेष बोध में एक वर्ण का उपदेश करने से ही उसके अन्य आकृतिरूपों का ग्रहण स्वयं हो जाता है। यथा उपदिश्यमान अकार अपने अन्य दीर्घ, प्लुत, उदात्तादि सभी रूपों का ग्रहण करवाता है परन्तु इस आकृतिग्रहण में संवृत, ध्मात आदि स्वर और व्यंजन दोषों का ग्रहण इष्ट नहीं है क्योंकि आचार्य ने आगम, विकार, धातु प्रत्यय आदि सभी को शुद्ध रूप में पढ़ा है—

आगमाश्च विकाराश्च प्रत्ययाः सह धातुभिः।
उच्चार्यन्ते ततस्तेषु नेमे प्राप्ताः कलादयः॥

अथवा दुर्जनतोषन्याय से यदि इन दोषों का ग्रहण मान भी लिया जाये तो गर्गादि, विदादि पाठों से इन दोषों की निवृत्ति हो सकती है। गर्गादि गणपाठों के दो प्रयोजन हैं। ये समुदायों का साधुत्व तो बनाते ही हैं, कलादि की निवृत्ति भी करते हैं, परन्तु इन दोषों को अनुबन्धों के स्थान पर लिङ्ग स्वीकार करने से यद्यपि इत्संज्ञा, लोप आदि की दीर्घ शास्त्रीय प्रक्रिया से बचा अवश्य जा सकता है परन्तु यह व्यवस्था अपाणिनीय है, इसलिए स्वीकार्य नहीं हो सकती। अपि च ऐसा होने पर शास्त्र अभिष्टानुशासन के दोष से दूषित हो जायेगा, जो सर्वथा अभीष्ट नहीं है।

———

श्रीः

महाभाष्यम्

पस्पशाह्निकम्

सर्वाकारं निराकारं विश्वाध्यक्षमतीन्द्रियम् ।
सदसद्रूपतातीतमदृश्यं माययावृतैः ॥१॥
ज्ञानलोचनसंलक्ष्यं नारायणमजं विभुम् ।
प्रणम्य परमात्मानं सर्वविद्याविधायिनम् ॥२॥

पुरुषाः प्रतिपद्यन्ते देवत्वं यदनुग्रहात् ।
सरस्वतीं च तां नत्वा सर्वविद्याधिदेवताम् ॥३॥

पदवाक्यप्रमाणानां पारं यातस्य धीमतः ।
गुरोर्महेश्वरस्यापि कृत्वा चरणवन्दनम् ॥४॥

महाभाष्यार्णवावारपारीणं विवृतिप्लवम् ।
यथागमं विधास्येऽहं कैयटो जैयटात्मजः ॥५॥

भाष्याब्धिः क्वातिगम्भीरः क्वाहं मन्दमतिस्ततः ।
छात्राणामुपहास्यत्वं यास्यामि पिशुनात्मनाम् ॥६॥

तथापि हरिबद्धेन सारेण ग्रन्थसेतुना ।
क्रममाणः शनैः पारं तस्य प्राप्तास्मि पङ्गुवत् ॥७॥

मूलम्—अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थः प्रयुज्यते । शब्दानुशासनं नाम शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम् । केषां शब्दानाम् ? लौकिकानां वैदिकानां च । लौकिकास्तावत्—गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण इति । वैदिकाः खल्वपि—शन्नो देवीरभिष्टये, इषे त्वोर्ज्जे त्वा, अग्निमीळे पुरोहितम्, अग्न आयाहि वीतय इति ।

प्रदीपः—भाष्यकारो विवरणकारत्वाद् व्याकरणस्य साक्षात्प्रयोजनमाह—अथ शब्दानुशासनमिति । प्रयोजनानि तु रक्षोहादीनि पश्चाद्वक्ष्यति । स्ववाक्यं व्याख्यातुं तदवयवमथशब्दं तावद् व्याचष्टे—अथेत्ययमिति । इतिशब्दोऽथशब्दस्य स्वरूपेऽवस्थापनाय प्रयुक्तः । एवं हि पदान्तरैः सामानाधिकरण्येन सम्बन्धे सत्यथशब्दो व्याख्यातुं शक्यते । स्वरूपेऽवस्थितश्च सर्वनाम्ना परामृश्यते—अयमिति । शब्द इति स्वरूपकथनं विस्पष्टप्रतिपत्त्यर्थम् । अधिकारार्थ इति । अधिकारः प्रस्तावो द्योत्यत्वेनास्य प्रयोजनमित्यर्थः । निपातानां च द्योतकत्वं वाक्यपदीये निर्णीतम् । अथशब्दस्याधिकारार्थत्वे यो वाक्यार्थः सम्पद्यते तं दर्शयति—शब्दानुशासनमिति ।

अनेकक्रियाविषयस्यापि शब्दानुशासनस्य प्रारभ्यमाणताऽथशब्दसन्निधानेन प्रतीयते। व्याकरणस्य चेदमन्वर्थं नाम—शब्दानुशासनमिति। अत्र चाचार्यस्य कर्त्तुः प्रयोजनाभावादनुपादानादुभयप्राप्त्यभावान्नोभयप्राप्तौ कर्मणीत्यनेन षष्ठी, अपितु कर्तृकर्मणोः कृतीत्यनेनेति कर्मणि चेति समासप्रतिषेधाप्रसङ्गादिध्मप्रव्रश्चनादिवत्समासः।

शब्दशब्दस्य सामान्यशब्दत्वाद् विना प्रकरणादिना विशेषेऽवस्थानाभावात्तन्त्री शब्दकाकवाशितादीनामप्यनुशासनप्रसङ्ग इति मत्वा पृच्छति—केषामिति। उत्तरपदार्थान्तर्गतस्यापि पूर्वपदार्थस्य बुद्ध्या प्रविभागात्किमा प्रत्यवमर्शः। यथा राजपुरुष इत्युक्ते "कस्य राज्ञः" इति।

सिद्धान्तवादी तु व्याकरणस्य वेदाङ्गत्वात्सामर्थ्याद्विशेषावगतिरिति मत्वाह—लौकिकानामिति। लोके विदिता इति—लोकसर्वलोकाट्ठञिति ठञ्। अथवा भवार्थेऽध्यात्मादित्वाट्ठञ्। एवं वेदे भवा वैदिकाः। वैदिकानां लौकिकत्वेऽपि प्राधान्यख्यापनाय पृथगुपादानम्। यथा—ब्राह्मणा आयाता वसिष्ठोऽप्यायात इति वसिष्ठस्य। तेषां तु प्राधान्यं यत्नेनापभ्रंशपरिहारात्। अथवा भाषाशब्दानामेव लौकिकत्वमिति भेदेन निर्देशः। तत्र लोके पदानुपूर्वीनियमाभावात्पदान्येव दर्शयति—गौरश्व इति। वेदे त्वानुपूर्वीनियमाद्वाक्यान्युदाहरति—शं न इति।

अनुवाद—अब 'शब्दानुशासन' प्रारम्भ होता है।

'अथ' यह शब्द 'प्रारम्भ' अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। "शब्दानुशासन" नाम का शास्त्र प्रारम्भ हुआ जानना चाहिए। किन शब्दों का? लौकिक और वैदिक (शब्दों) का। लौकिक, यथा—गौः, अश्वः, पुरुषः, हस्ती, शकुनिः, मृगः, ब्राह्मणः इत्यादि। वैदिक भी, यथा—शन्नो देवीरभिष्टये, इषे त्वोर्ज्जे त्वा, अग्निमीळे पुरोहितम्, अग्न आयाहि वीतये इत्यादि।

उषा—प्रदीपकार कैयट ने "अथ शब्दानुशासनम्" को भाष्यकार का वचन माना है। ततश्च स्वप्रोक्त पदों का व्याख्यान करते हुए 'अथ' शब्द का अधिकारार्थ में नियमन है। अपरत्र काशिकाकार उसे सूत्रकार का वचन मानते हैं और काशिका व्याख्या के आदि में पढ़कर उसका व्याख्यान करते हैं। यह देखते हुए कि "शब्दानुशासनम्" पाणिनिकृत व्याकरणग्रन्थ का अभिधान है, इसे अष्टाध्यायी का आदिम सूत्र माना जा सकता है। स्वयं पतञ्जलि ने भी "शब्दानुशासनं नाम शास्त्रम्" कहकर उसकी शब्दानुशासन संज्ञा स्वीकार की है। अन्यत्र भी अनेक स्थलों पर पतञ्जलि ने श्रुतिमन्त्रों अथवा आप्तवाक्यों को उद्धृत कर उनका व्याख्यान किया है।

वस्तुतः शब्दानुशासन व्याकरणशास्त्र का अन्वर्थ नाम है। व्याकरणशास्त्र का सर्वप्रमुख प्रयोजन ही शब्दों का अनुशासन है। शब्दों से यहाँ अभिप्राय साधु

शब्दों से है क्योंकि साधु शब्द के प्रयोग से ही धर्म की प्राप्ति होती है और अधर्मकारक असाधु शब्दों का व्याख्यान करके शास्त्र अनिष्टानुशासन के दोष से दूषित हो जायेगा और फिर साधु शब्दों के व्याख्यान में लाघव भी है।

मेदिनीकोश में 'अथ' शब्द के संशय, अधिकार, मंगल, विकल्प, आनन्तर्य, प्रश्न, कात्स्न्र्य, आरम्भ और समुच्चय रूप ९ अर्थ बताये गये हैं—(अथाथो संशये स्यातामधिकारे च मङ्गले। विकल्पानन्तरप्रश्नकात्स्न्र्यारम्भसमुच्चये ॥) यहाँ यह निपात 'आरम्भ' अर्थ का द्योतक है। इति शब्द का प्रयोग 'अथ' शब्द के स्वरूपावस्थान के लिये है।

"शब्दानुशासनम्" में "कर्तृकर्मणोः कृति" इस सूत्र से षष्ठी प्राप्त है। 'कर्मणि च" सूत्र से समास का निषेध न होकर "इध्मप्रव्रश्चनः" आदि की तरह समास का रूप निष्पन्न होगा।

शास्त्र का लक्षण है—"प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा। पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते"॥ व्याकरण में भी साधुशब्दप्रयोग में प्रवृत्ति तथा असाधु शब्दप्रयोग में निवृत्ति का उपदेश किया जाता है, अतः व्याकरण भी शास्त्र है।

'शब्दानुशासनम्' समस्त पद है, अतः "पदार्थः पदार्थानान्वेति न तु तदेकदेशेन" इस नियम से समस्त पद के एकभाग 'शब्द' शब्द से सम्बद्ध प्रश्न "केषां शब्दानाम्" भी उपपन्न नहीं हो सकता। तथापि भाष्यकार के ही इसी प्रकार के अन्य प्रयोगों—"राजपुरुषोऽयम्। कस्य राज्ञः ?" इत्यादि को देखकर इसका भी सामञ्जस्य किया जा सकता है।

यद्यपि सिद्धान्तरूप में शब्द एक ही है और उसके समस्त जागतिक आकार अनित्य हैं, तथापि लोक में क्योंकि उन्हीं से अर्थबोध होता है और व्याकरण में भी उन्हीं के साधुत्व का अनुशासन किया जाता है, अतः लौकिक प्रयोग को दृष्टि में रखकर यहाँ बहुवचन का निर्देश किया गया है। इसीलिए व्याकरण को आञ्जस (तामस, अन्धकारपूर्ण) मार्ग भी कहा गया है।

वैदिक शब्द भी यद्यपि लोक में ही हैं तथापि प्रधान होने के कारण ब्राह्मणवशिष्ठ न्याय से उनका पृथगुपादान किया गया है। अथवा लोकभाषा में प्रयुक्त शब्दों को लौकिक और वेद में प्रयुक्त शब्दों को वैदिक कहकर भी इस कथन का सामञ्जस्य किया जा सकता है। वेदवाक्यों में पदानुपूर्वी नियत है। मीमांसा का स्पष्ट अभिमत है कि विशिष्ट क्रम में मन्त्रों का पाठ करने से अभ्युदय की प्राप्ति होती है। इसीलिए वैदिक शब्दों को मन्त्रस्थ क्रम में ही पढ़ा गया है, लौकिक शब्दों को स्वतन्त्र रूप से पृथक् पृथक् करके पढ़ दिया गया।

मूलम्—अथ गौरित्यत्र कः शब्दः। किं यत्तत्सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाण्यर्थरूपं स शब्दः। नेत्याह। द्रव्यं नाम तत्।

यर्त्तहि तदिङ्गितं चेष्टितं निमिषितमिति स शब्दः । नेत्याह । क्रिया नाम सा ।

यर्त्तहि तच्छुक्लो नीलः कपिलः कपोत इति स शब्दः । नेत्याह । गुणो नाम सः ।

यर्त्तहि तद्भिन्नेष्वभिन्नं छिन्नेष्वच्छिन्नं सामान्यभूतं स शब्दः । नेत्याह । आकृतिर्नाम सा ।

कस्तर्हि शब्दः । येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः ।

अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते । तद्यथा—शब्दं कुरु, मा शब्दं कार्षीः, शब्दकार्ययं माणवक इति ध्वनिं कुर्वन्नेवमुच्यते । तस्माद् ध्वनिः शब्दः ।

प्रदीपः—अयं गौरयं शुक्ल इति शब्दार्थयोरभेदेन लोके व्यवहारदर्शनाच्छब्द-स्वरूपनिर्धारणाय पृच्छति—अथेति । गौरिति विज्ञाने प्रतिभासमानेषु वस्तुषु कः शब्द इत्यर्थः । तान्येव वस्तूनि क्रमेण निर्दिशति । किं यत्तदिति । उद्दिश्यमानप्रति-निर्दिश्यमानयोरेकत्वमापादयन्ति सर्वनामानि पर्यायेण तल्लिङ्गमुपाददत इति काम-चारतः स शब्द इति पुंल्लिङ्गेन निर्देशः । नेत्याहेति । भिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वान्न द्रव्यं शब्द इति प्रतीतम्, अपि तु द्रव्यमिति । यदि च द्रव्यानुशासनं विवक्षितमभविष्यद् "अथ द्रव्यानुशासन" मित्येवावक्ष्यत् ।

अनेनैव न्यायेन गुणक्रियासामान्यानां निराकृतेऽपि शब्दत्वे प्रपञ्चार्थं तच्चोद्य-पूर्वकं निराकरोति यर्त्तहीति । गोशब्दार्थे चैषां सम्भवाच्छब्दत्वमाशङ्कते । परि-हारस्तु पूर्ववत् । तत्रेङ्गितमभिप्रायस्य सूचकः शरीरव्यापारः । चेष्टितं कायपरिस्पन्दः । निमिषितमक्षिव्यापारः ।

शुक्लो नील इति । द्रव्यस्य प्रागुपन्यासाद्गुणमात्राभिधायिनोऽत्र शुक्लादयो द्रष्टव्याः ।

भिन्नेष्वभिन्नमिति । अनेन सामान्यस्यैकत्वं कथ्यते । छिन्नेष्वच्छिन्नमिति । अनेन तु नित्यत्वम् । सामान्यभूतमिति । सत्ताख्यं महासामान्यं गोत्वादेः सामान्य-विशेषस्योपमानं निर्दिष्टम् । सामान्यमिव सामान्यभूतम् । भूतशब्द उपमार्थे, यथा—पितृभूत इति ।

द्रव्यादिषु निरस्तेषु पृच्छति—कस्तर्हीति । उत्तरमाह—येनोच्चारितेनेति । वैयाकरणा वर्णव्यतिरिक्तस्य पदस्य वाक्यस्य वा वाचकत्वमिच्छन्ति । वर्णानां प्रत्येकं वाचकत्वे द्वितीयादिवर्णोच्चारणानर्थक्यप्रसङ्गात् । आनर्थक्ये तु प्रत्येकमुत्पत्ति-पक्षे यौगपद्येनोत्पत्त्यभावात्, अभिव्यक्तिपक्षे तु क्रमेणैवाभिव्यक्त्या समुदायाभावादेक-स्मृत्युपारूढानां वाचकत्वे सरो रस इत्यादावर्थप्रतिपत्त्यविशेषप्रसङ्गात्तद्व्यतिरिक्तः

स्फोटो नादाभिव्यङ्ग्यो वाचको विस्तरेण वाक्यपदीये व्यवस्थापितः । उच्चारितेन । प्रकाशितेनेत्यर्थः ।

अथवेति । अन्यत्र ध्वनिस्फोटयोर्भेदव्यवस्थापितत्वादिहाभेदेन व्यवहारेऽपि न दोषः, द्रव्यादयो न शब्दशब्दवाच्या इत्यत्र तात्पर्यात् । ध्वनिं कुर्वन्निति । विधिनिषेधयोरप्रवृत्तविषयत्वात्कथमस्य त्रिभिः सम्बन्धः । उच्यते—शब्दं कुर्वन्नपि शब्दं कुर्वित्युच्यते विरामाशङ्कायां तन्निवृत्तये । तथानभिमतशब्दश्रवणोद्वेजितेनोच्यते—मा शब्दं कार्षीरिति ।

अनुवाद—सम्प्रति "गौः" इसमें क्या शब्द है ? क्या वह, जो सास्ना (गलकम्बल), पूंछ, ककुद (कूब), खुर और सींग वाला पदार्थ है, वह शब्द है ? 'नहीं' यह (वैयाकरण) कहता है । वह तो द्रव्य है ।

तो क्या जो (उसके) शरीरव्यापार, कायपरिस्पन्द और अक्षिव्यापार हैं, वह शब्द है ? 'नहीं' ऐसा (वैयाकरण) कहता है । वह तो क्रिया है ।

तो जो वह (तद्गत) शुक्ल, नील, कपिल और कपोत (वर्ण) है, वह शब्द है ? वैयाकरण कहता है—"नहीं, वह तो गुण है ।"

तो जो वह भिन्न (पदार्थों) में भी अभिन्न, (पदार्थों के) नष्ट हो जाने पर भी नित्य रहने वाला सामान्यभूत (जातितत्त्व) है, वह शब्द है । वैयाकरण कहता है, "नहीं, वह तो आकृति (जाति) है ।"

तो शब्द क्या है ? (उत्तर) जिसके उच्चारण करने से (नादाभिव्यक्त होने से) सास्ना लाङ्गूल ककुद खुर और सींग वाले पदार्थ का बोध होता है, वह शब्द है ।

अथवा लोक में जिससे अर्थ का बोध होता है, वह ध्वनि 'शब्द' कही जाती है । जैसे ध्वनि करने वाले बालक को उद्देश्य करके 'शब्द करो', 'शब्द मत करो', यह बालक शब्दकारी (शोर करने वाला) है, ऐसा कहा जाता है । इसलिए (लोकव्यवहार में) ध्वनि शब्द है ।

उषा—"ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म" इत्यादि श्रुतिवाक्यों तथा "वृद्धिरादैच्" इत्यादि स्मृतिवाक्यों में शब्द और अर्थ का अभेद रूप में प्रतिपादन है । लौकिक व्यवहार में भी "अयं गौः" इत्यादि वाक्यों में गो शब्द और गो अर्थ का अभेदेन प्रयोग होने से द्रव्य में शब्दत्व की शङ्का उत्पन्न होती है । न केवल द्रव्य और शब्द का ही, बल्कि द्रव्याश्रित जाति, गुण, क्रिया का भी द्रव्य के साथ अभेद होने के कारण परम्परा से शब्द के साथ अभेद सिद्ध होता है । इसलिए शब्दानुशासन से पूर्व शब्द के स्वरूप पर विचार करते हुए भाष्यकार ने "अथ गौरित्यत्र कः शब्दः" इस प्रश्न को उठाया है और सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाण्यर्थरूप गुण तथा सामान्यभूत जाति को पूर्वपक्ष के रूप में उठाकर उनका शब्दत्वेन निषेध किया है ।

व्याकरणमत में न तो प्रत्येक वर्ण को ही वाचक माना जाता है, न वर्णों के समूह को। घट आदि शब्दों में यदि घटादि प्रत्येक वर्ण को ही वाचक मान लिया जाये तो अन्य वर्णों में, जिनके समूह से पद बना है—टकारादि में वैयर्थ्य प्रसङ्ग उपस्थित हो जायेगा। वर्ण समुदाय भी उच्चरित प्रध्वंसी स्वभाव वाला होने के कारण अर्थ का वाचक नहीं हो सकता क्योंकि पूर्वापरता परस्पर सापेक्ष होती है और एक वर्ण के नष्ट हो जाने पर दूसरे वर्ण से सापेक्षता की कल्पना नहीं की जा सकती। नैयायिक तो क्योंकि शब्द को ही अनित्य मानता है, अतः वर्णों की सत्ता ही जब नष्ट हो जाती है तो उनमें व्यवधानरहित उत्तरकालीनता के सम्बन्ध की कल्पना सम्भव नहीं। पूर्व पूर्व वर्ण के संस्कार की कल्पना इसलिए उचित नहीं कि संस्कार के विशिष्ट क्रम को निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता। नदी और दीन तथा सर और रस आदि के समान इस प्रकार का क्रम विपर्यय लोकव्यवहार में निश्चय ही अनभीष्ट है।

इसलिए वैयाकरणों के अनुसार द्रव्य, गुण, क्रिया, जाति आदि से भिन्न एक स्वतन्त्र सत्ता है, जिसके उच्चारण से सास्नादिमत्पदार्थ का बोध होता है। कैयट और नागेश यहाँ स्फोट तत्त्व का विवेचन करते हैं जो नित्य है और ध्वनि के द्वारा अभिव्यक्त होता है। शब्द का उपकारक होने के कारण ध्वनि में शब्दत्व का आरोप होता अवश्य है, वस्तुतः वह शब्द नहीं। स्फोट ही वास्तविक शब्द है। वर्णरूप मध्यमानाद से अभिव्यक्त होकर वह वर्णस्फोट पदरूप मध्यमानाद से अभिव्यक्त होकर पदस्फोट और वाक्यरूप मध्यमानाद से अभिव्यक्त होकर वाक्य-स्फोट कहलाता है। वस्तुतः ये सब भेद भी घटाकाश और मठाकाश की तरह औपाधिक हैं, वास्तविक नहीं। वर्ण और पद एक स्वतन्त्र और पूर्ण ध्वनि तो हो सकते हैं, स्वतन्त्र अर्थ नहीं हो सकते। अतः कौण्डभट्ट के अनुसार आठ प्रकार के स्फोटों में से वाक्य स्फोट ही मुख्य है, क्योंकि उसी से लोक में अर्थबोध देखा जाता है।

लोक में प्रचलित ध्वनि को भी पतञ्जलि ने शब्द के रूप में स्वीकार किया है। लोक में 'शब्द' शब्द से ध्वनि अर्थ ही समझा जाता है, इसीलिए "शब्दं कुरु", "मा शब्दं कार्षीः" इत्यादि प्रयोग उपपन्न होते हैं। भर्तृहरि ने भी आगे चलकर प्रत्येक वाचक शब्द में दो शब्दों (स्फोट और ध्वनि) की सत्ता को स्वीकार किया था तथापि भर्तृहरि के ही शब्दों में ध्वनि शब्द का प्रयोजन स्फोट शब्द को अभि-व्यक्त मात्र करना ही है। पतञ्जलि ने भी अन्यत्र महाभाष्य में ही ध्वनि को शब्द का गुण कहा है—"एवं तर्हि स्फोटः शब्दः, ध्वनिः शब्दगुणः"। परापश्यन्ती-मध्यमावैखरीरूप वाणी के चार विभागों में से यहाँ ध्वनिपद से वैखरी तथा स्फोट पद से मध्यमावस्थास्थ आन्तर शब्द का ग्रहण होता है।

मूलम्—कानि पुनः शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि ? रक्षोहागमलध्वसन्देहाः प्रयोजनम्।

रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम् । लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यग्वेदान्परिपालयिष्यतीति ।

ऊहः खल्वपि । न सर्वैर्लिङ्गैर्न च सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदे मन्त्रा निगदिताः । ते चावश्यं यज्ञगतेन पुरुषेण यथायथं विपरिणमयितव्याः । तन्नावैयाकरणः शक्नोति यथायथं विपरिणमयितुम् । तस्मादध्येयं व्याकरणम् ।

आगमः खल्वपि । ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति । प्रधानं च षट्स्वङ्गेषु व्याकरणम् । प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान्भवति ।

लघ्वर्थं चाध्येयं व्याकरणम् । ब्राह्मणेनावश्यं शब्दाः ज्ञेया इति । न चान्तरेण व्याकरणं लघुनोपायेन शब्दाः शक्या ज्ञातुम् ।

असन्देहार्थं चाध्येयं व्याकरणम् । याज्ञिकाः पठन्ति "स्थूलपृषतीमाग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेतेति । तस्यां सन्देहः स्थूला चासौ पृषती च स्थूलपृषती, स्थूलानि पृषन्ति यस्याः सेयं स्थूलपृषतीति । तां नावैयाकरणः स्वरतोऽध्यवस्यति । यदि पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं ततो बहुव्रीहिः, अथ समासान्तोदात्तत्वं ततस्तत्पुरुष इति ।

प्रदीपः—कानि पुनरिति । किं सन्ध्योपासनादिवद्व्याकरणाध्ययनं नित्यं कर्माथ काम्यमिति प्रश्नः ।

पारम्पर्येण पुरुषार्थसाधनतामस्याह—रक्षेति । लोके लोपाद्यदृष्टं वेदे दृष्ट्वा भ्राम्येदवैयाकरणः, वैयाकरणस्तु न भ्राम्यति वेदार्थं चाध्यवस्यति । तत्र लोपागमयोरुदाहरणं देवा अदुह्रेति । दुहेर्लङो झस्यादादेशे कृते लोपस्त आत्मनेपदेष्विति तलोपः, बहुलं छन्दसीति रुटि सति रूपमेतत् । वर्णविकारो यथा—उद्ग्राभं च निग्राभं चेति । हृग्रहोर्भश्छन्दसि हस्येति वक्तव्यमिति हस्य भकारः । उदि ग्रह इत्योद्ग्रामनिग्राभौ चच्छन्दसि स्रुगुद्यमननिपातनयोरिति वचनादुन्निपूर्वाद्ग्रहेर्घञ् ।

ऊहः खल्वपीति । इह यस्मिन् यागे इतिकर्त्तव्यतोपदिष्टा यागान्तरेणोपजीव्यते सा प्रकृतिः । येनोपजीव्यते सा विकृतिः । प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्येति मीमांसकैर्व्यवस्थापिते न्याये प्रकृतिप्रत्ययादीनामूहं वैयाकरणः सम्यग्विजानाति । तत्राग्नेर्मन्त्रोऽस्ति—अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामीति । तत्र सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः इति सौर्ये चरौ मन्त्र ऊह्यते—सूर्याय त्वा जुष्टं निर्वपामीति । विस्तरेण भर्तृहरिणा प्रदर्शित ऊहः ।

आगम इति । आगमः प्रयोजनप्रवर्तको नित्यकर्मतां व्याकरणाध्ययनस्य दर्शयति । प्रयोजनशब्देन च फलं प्रयोजकश्चोच्यते । निष्कारण इति । दृष्टं कारणमनपेक्ष्येत्यर्थः । प्रधानं चेति । पदपदार्थावगमस्य व्याकरणनिमित्तत्वात्तन्मूलकत्वाद्वाक्यवाक्यार्थावसायस्येति भावः ।

लघ्वर्थमिति । लाघवेन शब्दज्ञानमस्य प्रयोजनम् । ब्राह्मणेनेति । अध्यापनं

ब्राह्मणस्य वृत्तिः । न चाशब्दज्ञं तमुपश्लिष्यन्ति शिष्या इति ।

असन्देहार्थमिति । सन्देहस्य प्रागभावोऽत्र द्रष्टव्यो न तु प्रध्वंसाभावः । न हि वैयाकरणस्य संशय उत्पद्य विनश्यति, इतरस्यैव तदुत्पादात् । स्वरत इति । पूर्वपदप्रकृतिस्वराद्बहुव्रीह्यर्थावसाय इत्यर्थः ।

अनुवाद—शब्दानुशासन (व्याकरणाध्ययन) के क्या प्रयोजन हैं ? रक्षा, ऊह, आगम, लघु और असन्देह—ये (मुख्य) प्रयोजन हैं ।

वेदों की रक्षा के लिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए । क्योंकि लोप, आगम आदि वर्ण विकारों को जानने वाला ही वेदों की सम्यक् प्रकार से रक्षा कर सकेगा ।

ऊह भी (प्रयोजन है) । वेद में मन्त्र सब लिङ्गों और सब विभक्तियों के साथ नहीं पढ़े गये । यज्ञ में प्रवृत्त पुरुष के द्वारा यथायुक्त प्रकार से विपरिणमित होने चाहिएँ । अवैयाकरण उन्हें उचित रीति से परिवर्तित नहीं कर सकता । इसलिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए ।

आगम (शास्त्र) भी (व्याकरणाध्ययन का प्रयोजक है) । ब्राह्मण के द्वारा प्रयोजन रहित होकर धर्मस्वरूप षडङ्ग वेद का अध्ययन और ज्ञान प्राप्त करना चाहिए । छह अङ्गों में व्याकरण प्रधान है और प्रधान में किया हुआ यत्न फलवान् भी होता है ।

लाघव के कारण व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए । ब्राह्मण को शब्द का ज्ञान अवश्य करना चाहिए और शब्द ज्ञान के लिए व्याकरण के अतिरिक्त अन्य लघु उपाय नहीं है ।

सन्देह की निवृत्ति के लिए भी व्याकरणाध्ययन करना चाहिए । याज्ञिक (मीमांसक) कहते हैं कि "स्थूलपृषती गाय का अग्नि तथा वरुण देवताओं के लिए आलम्भन करे ।" इसमें सन्देह है । (इसका एक अर्थ हो सकता है) स्थूल और पृषती (धब्बों वाली) (दूसरा अर्थ) स्थूल (मोटे) हैं धब्बे जिसके । अवैयाकरण इस विषय में स्वर से निश्चय नहीं कर सकता । यदि पूर्वपद का अपना ही स्वर है तो यह बहुव्रीहि है, यदि समासान्तोदात्त है तो तत्पुरुष ।

उषा—शब्दानुशासन के प्रयोजन से यहाँ अभिप्राय व्याकरणाध्ययन के प्रयोजन से है । प्रदीपकार ने यहाँ इसका अर्थ यह किया है कि क्या व्याकरणाध्ययन संध्योपासनादि की तरह नित्य कर्म है अथवा ज्योतिष्टोम आदि की तरह काम्य कर्म ? इसी बात को प्रदीप के व्याख्याता उद्योत ने स्पष्ट करते हुए कहा है कि क्या शब्दज्ञान का प्रयोजन, उसके अज्ञान से प्राप्त होने वाले प्रत्यवाय का परिहार करना है अथवा इसका इससे अतिरिक्त कुछ अन्य भी फल है ? पतञ्जलि ने "ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च" कहकर उसके नित्य

अध्ययन की बात कही थी। अन्यत्र एक स्थल पर पतञ्जलि ने शब्दज्ञान में धर्म-प्राप्ति की बात करते हुए कहा है कि शब्द साधुशब्द के ज्ञान में धर्म की बात करता है, अपशब्द के ज्ञान से अधर्म की बात श्रुति में नहीं कही गई और जिसका उल्लेख नहीं किया जाता उससे न तो कोई दोष ही लगता है और न ही वह अभ्युदय का कारण होती है, जैसे—हिक्कित, श्वसित, कण्डूयित इत्यादि क्रियायें। अतः व्याकरणाध्ययन काम्य कर्म भी है।

नागेश के अनुसार यहाँ प्रयोजन शब्द प्रयोजक का भी वाचक है। क्या कोई श्रुति अथवा स्मृति वाक्य व्याकरणाध्ययन का प्रयोजक भी है या नहीं, यह प्रश्न का आशय है। "रक्षोहागम०" इत्यादि प्रयोजनों में 'आगम' पद का उपादान इस व्याख्यान को पुष्ट करता है।

"रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः" में बहुवचनान्त द्वन्द्व होने पर भी "प्रयोजनम्" पद एकवचनान्त है। इसकी सिद्धि "नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम्" इस शास्त्र से विकल्प से होती है। अभाव पक्ष में प्रयोजनानि पद सिद्ध होगा।

वेद परम्परा से रक्षित होते हुए स्वरादिदोष से हीन नितान्त शुद्ध रूप में उपलब्ध होते रहे हैं। उनकी रक्षा के लिए लोप, आगम, वर्णविकारादि का ज्ञान अपरिहार्य है। क्योंकि ये सब वेद में उपलब्ध होते हैं और इनके स्वरूप से अपरिचित अवैयाकरण इन्हें देखकर भ्रान्त हो सकता है। "देवा अदुह्र" इत्यादि स्थलों में "लोपस्त आत्मनेपदेषु" सूत्र से 'त' का लोप हुआ है और "बहुलं छन्दसि" सूत्र से रुट् का आगम हुआ है। "उदग्राभं च निग्राभम्" इस स्थल में "हृग्रहोर्भश्छन्दसि हस्येति वक्तव्यम्" इस वार्तिक से ह् को भ् आदेश हुआ। यह वर्णविकार का उदाहरण है।

जिस याग में उपदिष्ट इतिकर्त्तव्यता यागान्तर की उपजीव्य बनती है, वह प्रकृतियाग कहलाता है, अर्थात् प्रकृतियाग में उसकी इतिकर्त्तव्यता पूर्णरूप से निर्दिष्ट होती है। जिस याग में वह "प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या" इस नियम से प्रकृति याग से ली जाती है, उसे विकृतियाग कहते हैं। इस प्रकार प्रकृतियाग में विनियुक्त पदों का विकृतियाग के सन्दर्भ के अनुसार विपरिणाम 'ऊह' कहलाता है। आग्नेय मन्त्र "अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि" का "सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः" इस अर्थवाद वाक्य से प्रेरणा लेकर सौर्य चरु का निर्वपन करने की इच्छा से "सूर्याय त्वा जुष्टं निर्वपामि" इस रूप में परिवर्त्तन किया जाता है। इस प्रकार का परिवर्त्तन प्रकृतिप्रत्ययविभागज्ञ ही कर सकता है। नागेश ने उद्योत में ऊह ज्ञान का फल बताते हुए कहा है कि "ऊहज्ञस्य हि आर्त्विज्यलाभेन द्रव्य-प्राप्तिद्वारा ऐहिकसुखसिद्धिः फलमिति बोध्यम्।"

आगम व्याकरणाध्ययन के नित्यकर्मत्व का प्रयोजक है। ब्राह्मण को इष्ट प्रयोजनों की अपेक्षा न करके धर्मस्वरूप षडङ्ग वेद का अध्ययन करना चाहिए।

वेद के ये छः अङ्ग शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष् हैं। व्याकरण इनमें मुख्य होने के कारण मुखस्थानीय है—"मुखं व्याकरणं स्मृतम्।"

अध्ययन-अध्यापन और यजन-याजन ब्राह्मण की वृत्ति है। शब्दज्ञान किये बिना अध्यापन नहीं किया जा सकता। इसलिए ब्राह्मण को शब्दज्ञान अवश्य करना चाहिए। केवल साधु शब्द का उत्सर्गापवाद रीति से अन्वाख्यान करने के कारण व्याकरण शब्दज्ञान का लघु उपाय है।

स्वर विषयक ज्ञान के अभाव में 'स्थूलपृषती' इत्यादि पदों में अवैयाकरण को सन्देह उत्पन्न हो जाता है क्योंकि पूर्व स्वर पर उदात्त होने पर इस प्रकार के सन्देह का अपाकरण व्याकरण ज्ञान से ही हो सकता है।

'असन्देह' पद से यहां सन्देह का प्रागभाव ही कैयट को अभीप्सित है। कैयट के इस कथन पर और व्याख्यान करते हुए नागेश का कथन है कि अत्यन्ताभाव नित्य है, अतः वह यहां अभीप्सित नहीं हो सकता। ध्वंसाभाव भी इसलिए नहीं हो सकता कि तत्तद्विषयक व्याकरण ज्ञान से युक्त व्यक्ति में सन्देह की सम्भावना ही नहीं होती।

मूलम्—इमानि च भूयः शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि—तेऽसुराः। दुष्टः शब्दः। यदधीतम्। यस्तु प्रयुङ्क्ते। अविद्वांसः। विभक्तिं कुर्वन्ति। यो वा इमाम्। चत्वारि। उत त्वः। सक्तुमिव। सारस्वतीम्। दशम्यां पुत्रस्य। सुदेवो असि वरुणेति।

प्रदीपः—मुख्यानि प्रयोजनानि प्रदर्श्यानुषङ्गिकाणि प्रदर्शयति—**इमानि चेति। भूय इति।** पुनरित्यर्थः। आनुषङ्गिकत्वाच्चैषां वर्गद्वयोपादानम्।

अनुवाद—पुनः ये भी शब्दानुशासन के प्रयोजन हैं— तेऽसुराः। दुष्टः शब्दः। यदधीतम्। यस्तु प्रयुङ्क्ते। अविद्वांसः। विभक्तिं कुर्वन्ति। यो वा इमाम्। चत्वारि। उत त्वः। सक्तुमिव। सारस्वतीम्। दशम्यां पुत्रस्य। सुदेवो असि वरुण।

उषा—रक्षा, ऊह, आगम, लघु और असन्देह व्याकरणाध्ययन के मुख्य प्रयोजन हैं। इनकी मुख्यता पद और पदार्थ के ज्ञान के अधीन होने के कारण है, अर्थात् इन पांचों का सम्बन्ध व्याकरण की प्रायोगिक उपयोगिता से है। इसलिए इनका अभिधान पहले किया गया है। इसके पश्चात् व्याकरण के आनुषङ्गिक प्रयोजनों का विवेचन है। आनुषङ्गिक अथवा गौण प्रयोजनों के रूप में "तेऽसुराः" इत्यादि तेरह प्रयोजनों का परिगणन किया गया है। बाह्य साक्ष्यों के आधार पर साधु शब्द प्रयोग के विधान तथा असाधु शब्द प्रयोग के निषेध के कारण ही इनकी आनुषङ्गिकता है। मुख्य और गौण का भेद होने के कारण ही इन्हें दो वर्गों में विभाजित करके प्रस्तुत किया गया है।

मूलम्—तेऽसुराः—

तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः। तस्माद् ब्राह्मणेन न

म्लेच्छितवै नापभाषितवै, म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः। म्लेच्छा मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम्। तेऽसुराः।

प्रदीपः—तेऽसुरा इति। निन्दार्थवादेन न म्लेच्छितवा इति म्लेच्छनं निषिध्यते। तत्र केचिदाहुः "हैहेप्रयोगे हैऌयोः" इति प्लुते प्रकृतिभावे च कर्त्तव्ये तदकरणं म्लेच्छनमिति। पदद्विर्वचने कार्ये वाक्यद्विर्वचनं लत्वं च म्लेच्छनमित्यपरे। न म्लेच्छितवा इत्यस्य पर्यायो नापभाषितवा इति। कृत्यार्थे इति तवैप्रत्ययः। म्लेच्छ इति कर्मणि घञ्।

अनुवाद—वे असुर 'हेलयो हेलयः' ऐसा कहते हुए पराजित हो गये। इसलिए ब्राह्मण को म्लेच्छन नहीं करना चाहिए, अपभाषण नहीं करना चाहिए। यह जो अपशब्द है, (वह) म्लेच्छ ही है। (हम) म्लेच्छ न हों इसलिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए। तेऽसुराः।

उषा—निन्दापरक अर्थवाद से म्लेच्छत्व का निषेध किया गया है। व्याकरणिक प्रक्रिया से भ्रष्ट होना ही अपशब्दत्व है और यही अपशब्द का प्रयोग म्लेच्छन है। म्लेच्छ न हो जायें इसलिए व्याकरण का अध्ययन आवश्यक है। असुर 'हेलयो हेलयः' इस प्रकार अपशब्दों का प्रयोग करते हुए पराभव को प्राप्त हुए। उनके कथन में पद द्विर्वचन के स्थान पर वाक्य द्विर्वचन तथा लत्व का उच्चारण म्लेच्छन है। अर्थात् "हे हेऽरयः" ऐसा शुद्ध प्रयोग है। यहाँ 'हे' इस पद का द्विर्वचन किया गया है परन्तु असुरों के कथन में सम्पूर्ण वाक्य ही द्विरुक्त है तथा जिह्वादोष के कारण 'र' के स्थान पर 'ल' का उच्चारण है। अतः उनका प्रयोग दुष्ट है।

'म्लेछितवै' इत्यादि पदों में "कृत्यार्थे" सूत्र से 'तवै' प्रत्यय हुआ है।

मूलम्—दुष्टः शब्दः—

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा
मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

दुष्टाञ्छब्दान्मा प्रयुक्ष्महीत्यध्येयं व्याकरणम्। दुष्टः शब्दः।

प्रदीपः—दुष्टः शब्द इति। स्वरेण स्वरतः। आद्यादित्वात्तसिः मिथ्याप्रयुक्त इति। यदर्थप्रतिपादनाय प्रयुक्तस्ततोऽर्थान्तरं स्वरवर्णदोषात्प्रतिपादयन्नाभिमतमर्थमाहेत्यर्थः। वागेव वज्रो हिंसकत्वात्। यथेन्द्रशत्रुशब्दः स्वरदोषाद्यजमानं हिंसितवानित्यर्थः। इन्द्रस्याभिचारो वृत्रेणारब्धस्तत्रेन्द्रशत्रुर्वर्धस्वेति मन्त्र ऊहितः। तत्रेन्द्रस्य शातयिता शमयिता भवेति क्रियाशब्दोऽत्र शत्रुशब्द आश्रितो न तु रूढिशब्दः, तदाश्रयणे हि बहुव्रीहितत्पुरुषयोरर्थभेदः। तत्रेन्द्रामित्रत्वे सिद्धे सतीन्द्रस्य

शत्रुर्भवेत्यत्रार्थे प्रतिपाद्येऽन्तोदात्ते प्रयोक्तव्य आद्युदात्त ऋत्विजा प्रयुक्त इत्यर्थान्तराभिधानादिन्द्र एव वृत्रस्य शातयिता सम्पन्नः। इन्द्रशत्रुत्वस्य च विधेयत्वात्सम्बोधनविभक्तेरनुवाद्यविषयत्वादिहाभावः। यथा—राजा भव युध्यस्वेति। ऊह्यमानस्य चामन्त्रत्वाद्यज्ञकर्मणीति जपादिपर्युदासेन मन्त्राणामेकश्रुतिर्विधीयमानेह न भवति।

अनुवाद—स्वर अथवा वर्ण से मिथ्या प्रयुक्त, दूषित शब्द (अपशब्द) उस (विवक्षित) अर्थ को नहीं कहता। वह वाणी रूप वज्र यजमान को मार देता है जैसे इन्द्रशत्रु (वृत्र) स्वर के अपराध से मारा गया।

(हम) दूषित शब्दों का प्रयोग न करें इसलिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए। दुष्टः शब्दः।

उषा—वक्ता जिस अर्थभावना का श्रोता में संचार करने के लिए शब्दों का प्रयोग करता है, स्वर अथवा वर्ण से दूषित शब्द उस अर्थभावना को व्यक्त नहीं कर पाते। आत्मीय जन को सम्बोधन करने के लिए 'स्वजन' शब्द का प्रयोग करता हुआ शकार 'श्वजन' कह बैठता है। कभी-कभी तो यह स्वर अथवा वर्णदोष बिल्कुल विपरीत अर्थभावना को लेकर उपस्थित होता है। वह वाणी रूपी वज्र यजमान का नाश कर डालता है। कथा प्रसिद्ध है कि त्वष्टा के पुत्र का इन्द्र ने वध कर दिया। त्वष्टा ने प्रतिशोध की भावना से इन्द्र को मारने के लिये अभिचार-याग किया। इस याग में "इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व" इस मन्त्र का ऊह किया गया। इसका अभिप्राय है कि "इन्द्र का शातयिता वृद्धि को प्राप्त हो" विवक्षित अर्थ की सिद्धि तभी हो सकती है जबकि "इन्द्रशत्रु' शब्द को तत्पुरुष समास बनाकर अन्तोदात्त पढ़ा जाये। परन्तु पुरोहित ने प्रमाद से उसे पूर्वपद के प्रकृतिस्वर से युक्त पढ़ दिया। परिणामतः बहुव्रीहि समास होकर "इन्द्र है शातयिता जिसका, वह वृद्धि को प्राप्त हो," इस अर्थ का वाचक हो गया। फलस्वरूप वृत्र उत्पन्न होते ही इन्द्र के द्वारा मार डाला गया।

इस मन्त्र का वास्तविक पाठ "मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा..." इस प्रकार है। भाष्य में प्रसिद्ध पाठ को बदलकर "दुष्टः शब्दः स्वरतो०" इस प्रकार पढ़ा गया है। इसका प्रयोजन उद्योतकार के अनुसार मन्त्रस्थ 'मन्त्र' शब्द की शब्दमात्रपरता सूचित करना है।

हम इस प्रकार के दूषित शब्दों का प्रयोग न करें, इसलिए हमें व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए—

यद्यपि बहु नाधीषे पठ पुत्र तथापि व्याकरणम्।
स्वजनः श्वजनो मा भूत्सकलः शकलः सकृच्छकृत्॥

मूलम्—यदधीतम्—

यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥

तस्मादनर्थकं माधिगीष्महीत्यध्येयं व्याकरणम् । यदधीतम्

प्रदीपः—**अविज्ञातमिति ।** अविदितस्वरादिसंस्कारत्वादर्थापरिज्ञानाद् वा । **निगदेनेति ।** पाठमात्रेण । न **तज्ज्वलतीति ।** निष्फलं भवति । **अनर्थकमिति ।** निष्प्रयोजनम्

अनुवाद—जो (मन्त्रादि) (पाठ मात्र से) अध्ययन तो किया (परन्तु उसे) जाना नहीं, केवल पाठमात्र से ही उच्चारण किया, अग्नि के अभाव में सूखे इंधन के समान वह कभी भी जलता नहीं ।

(हम) अनर्थक अध्ययन न करें इसलिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए । यदधीतम् ।

उषा—यहां 'अधीत' पद का सम्बन्ध शब्दात्मक ज्ञान से है । "अविज्ञात" पद का सम्बन्ध प्रकृतिप्रत्ययादि संस्कार तथा अर्थात्मक विज्ञान की हीनता से है । शब्दात्मक ज्ञान प्राप्त करके भी यदि अर्थरूप से ज्ञान प्राप्त न किया जाये तो अग्निहीन सूखे इंधन के समान वह प्रकाशित नहीं कर सकता । इसलिए अर्थज्ञान का ही प्राधान्य है ।

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् ।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥

यह श्रुतिवाक्य भी अर्थज्ञानपूर्वक शब्दाध्ययन का आदेश देता है ।

हमारा अध्ययन भी निषिद्ध अथवा अनर्थक न हो, इसलिए हमें व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए क्योंकि व्याकरण ही शब्द के प्रकृतिप्रत्ययविभाग का अन्वाख्यान करके अर्थप्राप्ति में सहायक होता है ।

मूलम्—**यस्तु प्रयुङ्क्ते**—

यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे
शब्दान्यथावद् व्यवहारकाले ।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र
वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः ॥

कः ?

वाग्योगविदेव ।

कुत एतत् ?

यो हि शब्दाञ्जानात्यपशब्दानप्यसौ जानाति । यथैव हि शब्दज्ञाने धर्मः, एवमपशब्दज्ञानेऽप्यधर्मः । अथवा भूयानधर्मः प्राप्नोति । भूयांसोऽपशब्दाः, अल्पीयांसः शब्दा इति । एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः । अथ योऽवाग्योगवित् । अज्ञानं तस्य शरणम् ।

विषम उपन्यासः । नात्यन्तायाज्ञानं शरणं भवितुमर्हति । यो ह्यजानन्वै

ब्राह्मणं हन्यात्सुरां वा पिबेत् सोऽपि मन्ये पतितः स्यात् ।

एवं तर्हि । सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः ।

कः ?

अवाग्योगविदेव । अथ यो वाग्योगविद् विज्ञानं तस्य शरणम् । क्व पुनरिदं पठितम् ?

भ्राजा नाम श्लोकाः ।

किं च भोः श्लोका अपि प्रमाणम् ?

किं चातः ।

यदि श्लोका अपि प्रमाणम्, अयमपि श्लोकः प्रमाणं भवितुमर्हति—
"यदुदुम्बरवर्णानां घटीनां मण्डलं महत् । पीतं न गमयेत्स्वर्गं किं तत्क्रतुगतं नयेत् ।"

प्रमत्तगीत एव तत्रभवतः । यस्त्वप्रमत्तगीतस्तत्प्रमाणम् । यस्तु प्रयुङ्क्ते ।

प्रदीपः—यस्तु प्रयुङ्क्ते इति । अनेनाभ्युदयहेतुत्वं व्याकरणाध्ययनस्य दर्शयति । विशेष इति । स एव शब्दः क्वचिदर्थे केनचिन्निमित्तेन प्रयुक्तः साधुरन्यथाऽसाधुः । यथाऽस्वेऽस्वशब्दो धनाभावनिमित्तकः साधुर्जातिनिमित्तकोऽसाधुः । गवि च गोणीशब्दः साधर्म्यात्प्रयुक्तः साधुर्जातिप्रयुक्तस्त्वसाधुः । क इति । वाग्योगविदः श्रुतत्वाद्दोषदर्शनाच्च प्रश्नः । प्रष्टैव परमतमाशङ्क्याह—वाग्योगविदेवेति । एवमपशब्दज्ञानेऽपीति । यथा श्लैष्मिकद्रव्यसेवया श्लैष्मिको व्याधिर्भवति तद्विपरीतसेवया त्वारोग्यं तथात्रापि यथोक्तं न्याय्यमिति भावः । भूयांसोऽल्पीयांस इति । परतमतापेक्षया प्रकर्षे प्रत्ययः । यदि मन्यसे बहवः शब्दा अल्पेऽपशब्दा अङ्गभूयस्त्वाच्च फलभूयस्त्वमिति । तन्न यस्माद्भूयांसोऽपशब्दा अल्पीयांसः शब्दाः । अज्ञानमिति । यथा च तिरश्चां ब्रह्महत्यादिफलाभावः । नात्यन्तायेति । पुरुषाणां विधिनिषेधयोरधिकारात्तत्परिज्ञाने प्रयत्नस्य न्याय्यत्वात् । प्रकरणात्सामर्थ्यं बलीय इत्याह—अवाग्योगविदिति । वाग्योगवित्तूभयज्ञोऽपि शब्दान्प्रयुङ्क्ते नापशब्दानिति ज्ञानपूर्वकप्रयोगादभ्युदयभाग्भवति । श्लोकस्यापरिज्ञानात्पृच्छति—क्व पुनरिति । प्रातिपदिकार्थप्रश्न एवात्र तात्पर्यम्—किं तदस्ति यत्रेदं पठितमित्यर्थः । अत एव श्लोका इति प्रथमान्तेनोत्तरम् । अन्यथा श्लोकेष्विति वक्तव्यं स्यात् । आप्तोक्तत्वापरिज्ञानादाह—किं च भो इति । यदुदुम्बरेति । अयं श्लोकः सौत्रामणियागे सुरापानस्य दुष्टत्वमुद्भावयति । प्रमत्तगीत इति । प्रमादेन विप्रतिपन्नत्वेन गीत इत्यर्थः । कात्यायनोपनिबद्धभ्राजाख्यश्लोकमध्यपठितस्य त्वस्य श्लोकस्य श्रुतिरनुग्राहिकास्ति—'एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग्भवतीति ।'

अनुवाद—जो शब्दों के (प्रयोगात्मक) वैशिष्ट्य में कुशल, व्यवहार में उनका यथायुक्त प्रयोग करता है वह वाग्योगवित् परलोक में अनन्त उत्कर्ष को प्राप्त करता है और अपशब्दों से दूषित हो जाता है (पाप का भागी होता है)।

कौन (दूषित होता है) ?

वाग्योगवित् ही ।

कैसे यह (जाना) ?

जो शब्दों को जानता है, वह अपशब्दों को भी जानता है । जिस तरह शब्दों के ज्ञान में धर्म है, उसी तरह अपशब्द के ज्ञान में अधर्म भी है । अथवा, अधिक अधर्म को प्राप्त करता है । अपशब्द अधिक हैं, (साधु) शब्द कम । एक एक शब्द के बहुत से अपभ्रंश हैं । जैसे "गौः" इस शब्द के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका इत्यादि प्रकार के अपभ्रंश हैं । और जो अवाग्योगवित् है, उसका रक्षक अज्ञान है । (यह) कथन अनुचित है । अज्ञान पूर्णरूप से रक्षक नहीं हो सकता । मेरा विचार है कि जो अनजाने में भी ब्राह्मण की हत्या कर दे या सुरापान करे, वह भी कदाचित् पतित होता ही है । अच्छा तो—वह वाग्योगवित् परलोक में अनन्त विजय को प्राप्त करता है । (अवाग्योगवित्) अपशब्दों से दूषित (पतित) हो जाता है ।

कौन (पतित होता है) ?

अवाग्योगवित् ही ।

जो वाग्योगवित् है, विशिष्ट ज्ञान ही उसका रक्षक है ।

यह (वचन) कहाँ पढ़ा गया है !

भ्राज नामक (कात्यायन प्रणीत) श्लोक है, (उनमें) ।

अरे ! तो क्या श्लोक भी प्रमाण हैं ?

तो क्या है ?

यदि श्लोक भी प्रमाण हैं, तो यह श्लोक भी प्रमाण हो सकता है—"जो ताम्र वर्ण वाली सुराहियों का महान् समूह भी दिया हुआ स्वर्ग को नहीं ले जा सकता तो यज्ञगत (वह थोड़ा सा सुरापान) क्या ले जायेगा ।

यह आपका प्रमादपूर्ण गीत है । जो अप्रमत्तगीत होता है, वही प्रमाण होता है । यस्तु प्रयुङ्क्ते ।

उषा—शब्द एक अर्थ में प्रयुक्त होने पर साधु होता है, अन्यत्र दूसरे अर्थ में वही असाधु हो जाता है । जैसे 'अस्व' शब्द धनाभाव निमित्तक होने पर साधु है, जातिवाचक 'अश्व' अर्थ में प्रयुक्त होने पर यही असाधु हो जाता है । वाग्योगवित् शब्दों के इन विशिष्ट अर्थों को जानता है और व्यवहार में उनका कुशलतापूर्वक प्रयोग करता है, अत एव साधु शब्द के ज्ञानपूर्वक प्रयोग से वह अभ्युदय को प्राप्त करता है ।

श्लोक में प्रत्यासत्ति के कारण वाग्योगवित् का ही "दुष्यति" के साथ अन्वय करके पूर्वपक्षी ने उसके लिए तर्क उपस्थित करते हुए कहा है कि शब्दज्ञान की

प्रक्रिया में अपशब्द का ज्ञान भी होता ही है और शब्दज्ञान जिस प्रकार से धर्म का हेतु है उसी प्रकार अपशब्दज्ञान अधर्म का कारण होगा और क्योंकि अपशब्द अधिक है अतः वह अधिक दोष से युक्त होगा। इसके विपरीत जो शब्दों का प्रयोग नहीं जानता उसके प्रयोग अज्ञानावस्था में किये जाने के कारण क्षम्य होंगे। अतः वाग्योगवित् ही दूषित होता है।

परन्तु पूर्वपक्षी के ये दोनों ही तर्क सिद्धान्ती को स्वीकार्य नहीं हुए। शब्द-ज्ञान तो धर्म का हेतु होता है परन्तु अपशब्दज्ञान से अधर्म प्राप्ति में कोई भी श्रुति प्रमाणरूप में उपस्थापित नहीं की जा सकती। यही बात आगे "किं पुनः शब्दस्य ज्ञाने धर्मः आहोस्वित्प्रयोगे" इस वार्त्तिक के व्याख्यान में विस्तार से प्रतिपादित है।

जहाँ तक अवाग्योगवित् के अज्ञानशरण होने की बात है, वह भी इसलिए स्वीकार्य नहीं हो सकती क्योंकि अज्ञानावस्था में किये गये ब्रह्महत्या आदि पाप भी दोष के कारण होते ही हैं। इसलिए वाग्योगवित् के साथ 'दुष्यति' का अन्वय नहीं किया जा सकता।

वाग्योगवित् साधु शब्दों के ज्ञानपूर्वक प्रयोग से विजय को प्राप्त करता है, अवाग्योगवित् असाधु शब्दों के प्रयोग से दूषित होता है। यही बात कात्यायन प्रणीत भ्राज नामक श्लोकों में भी कही गई है। सौत्रामणि याग में किञ्चित् सुरापान के विधान को लेकर कहे गये—

> **यदुदुम्बरवर्णानां घटीनां मण्डलं महत्।**
> **पीतं न गमयेत्स्वर्गं किं तत्क्रतुगतं नयेत्॥**

इस श्लोक की तरह कात्यायन प्रणीत श्लोक प्रमत्तगीत नहीं हैं।

मूलम्—अविद्वांसः—

> **अविद्वांसः प्रत्यभिवादे नाम्नो ये न प्लुतिं विदुः।**
> **कामं तेषु तु विप्रोष्य स्त्रीष्विवायमहं वदेत्॥**
> **अभिवादे स्त्रीवन्मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम्। अविद्वांसः।**

प्रदीपः—स्त्रीष्विवेति। प्रत्यभिवादे हि गुरुणा प्लुतः कार्यः। यस्तु प्लुतं कर्त्तुं न जानाति स स्त्रीवदवक्तव्योऽयमहमिति; न "अभिवादये देवदत्तोऽहम्" इत्यादिना संस्कृतवाक्येनेत्यर्थः।

अनुवाद—जो अविद्वान् प्रत्यभिवादन में नाम को प्लुत करना नहीं जानता, बाहर से आने पर भले ही उनके प्रति स्त्रियों की तरह "अयमहम्" इस प्रकार से कहे (अभिवादन करे)।

अभिवादन में हम स्त्रियों की तरह न हो जायें, इसलिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए। अविद्वांसः।

उषा—मनुस्मृति में कहा गया है कि वृद्ध पुरुष के प्रवेश करने पर युवक के प्राण ऊपर की ओर उत्क्रमित होते हैं। वृद्ध को प्रणाम करके वह उन्हें पुनः प्राप्त

कर लेता है (मनु० २।२०)। अभिवादन प्रकार के विषय में मनु का कथन है कि युवा अभिवादन करने के पश्चात् "अमुकनामाऽहं भोः" ऐसा कहे। (अभिवादये शुभशर्माऽहं भोः)। प्रत्यभिवादन में ब्राह्मण अभिवादनकर्त्ता को पूर्वाक्षर प्लुत करके आशीर्वाद दे—

आयुष्मान्भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादने।
अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते वाच्यः पूर्वाक्षरः प्लुतः॥ २।१२५

प्रत्यभिवादन में जो लोग नाम को प्लुत करना नहीं जानते उन्हें स्त्रियों के समान "अयमहमभिवादये" इस प्रकार ही कहकर अभिवादन करना चाहिए—

नामधेयस्य ये केचिदभिवादं न जानते।
तान्प्राज्ञोऽहमिति ब्रूयात्स्त्रियः सर्वांस्तथैव च॥ २।१२३

पाणिनि ने भी शूद्रविषयक प्रत्यभिवादन से अतिरिक्त वाक्य की 'टि' को प्लुत करने का विधान किया था—"प्रत्यभिवादेऽशूद्रे" (अष्टा० ८।२।८३)।

'टि', 'प्लुत' आदि का ज्ञान व्याकरण से ही होता है। हमारे साथ भी प्रत्यभिवादन विधि का ज्ञान न होने के कारण स्त्रियों की तरह व्यवहार न हो इसलिए हमें भी इस प्रकार के नियमों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए।

मूलम्—विभक्तिं कुर्वन्ति—

याज्ञिकाः पठन्ति—"प्रयाजाः सविभक्तिकाः कार्याः" इति। न चान्तरेण व्याकरणं प्रयाजाः सविभक्तिकाः शक्याः कर्त्तुम्। विभक्तिं कुर्वन्ति।

प्रदीपः—प्रयाजा इति। प्रयाजमन्त्रा ऊह्यमानाग्निशब्दप्रकृतिकविभक्तियुक्ता इत्यर्थः। **यथा समिधः समिधोऽग्न आज्यस्य व्यन्तु अग्नेऽग्न इति।**

अनुवाद—मीमांसक कहते हैं—"प्रयाज मन्त्रों को विभक्तियुक्त करना चाहिए (करके पढ़ना चाहिए)। और व्याकरण (के ज्ञान) के बिना प्रयाजों को सविभक्तिक नहीं किया जा सकता। विभक्तिं कुर्वन्ति।

उषा—यद्यपि प्रयाजमन्त्र विभक्तिसहित ही पढ़े गये हैं तथापि आधान के अनन्तर यदि कोई विघ्न उपस्थित हो जाये तो पुनराधेय इष्टि करनी पड़ती है। ऐसी परिस्थिति के लिये ही इस शास्त्र का आरम्भ किया गया है।

"त्वमेव प्रयाजानुयाजानां पुरस्तात्त्वं पश्चात्" इत्यादि वेदमन्त्र में प्रकृतिभूत अग्नि शब्द को श्रौत सम्प्रदाय के अनुसार प्रथमा, द्वितीया, तृतीया षष्ठी और सप्तमी विभक्ति से युक्त करके पढ़ा जाता है। आपस्तम्ब के अनुसार प्रथम चार को विभक्तियुक्त किया जाता है, अन्तिम को नहीं। व्याकरण ज्ञान के बिना इस प्रकार से प्रयाजों को विभक्तियुक्त कर पाना सम्भव नहीं है।

मूलम्—यो वा इमाम्—

"यो वा इमां पदशः स्वरशोऽक्षरशश्च वाचं विदधाति स आर्त्विजीनो भवति।" आर्त्विजीनाः स्यामेत्यध्येयं व्याकरणम्। यो वा इमाम्।

प्रदीपः—पदश इति। पदं पदमिति संख्यैकवचनाच्च वीप्सायामिति शस्। स्वरश। स्वर उदात्तादिः। अक्षरश इति। अक्षरं व्यञ्जनसहितोऽच्। आर्त्विजीन इति। ऋत्विजमर्हत्यार्त्विजीनो यजमानः। ऋत्विक्कर्मार्हतीति याजकोऽप्यार्त्विजीनः। यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञाविति सूत्रेण यज्ञर्त्विग्भ्यां तत्कर्मार्हतीति चोपसंख्यानमिति वार्तिकेन च खञ्। विद्वान्यजेत विद्वान्याजयेदिति द्वयोरपि विदुषोरधिकारात्।

अनुवाद—जो इस वाणी का पदशः, स्वरशः और अक्षरशः यथायुक्त विधान (प्रयोग, व्यवहार) करता है, वह निश्चय ही आर्त्विजीन होता है। हम भी आर्त्विजीन हों इसलिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए। यो वा इमाम्।

उषा—जो विद्वान् प्रतिपद, प्रतिस्वर तथा प्रत्यक्षर इस वाणी का यथोचित प्रयोग करता है, वह "आर्त्विजीन" होता है। आर्त्विजीन पद के प्रदीपकार के अनुसार "ऋत्विजमर्हत्यार्त्विजीनः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार यजमान तथा "ऋत्विक्कर्मार्हतीति" इस व्युत्पत्ति से याजक, दोनों ही अर्थ हो सकते हैं। यजन और याजन दोनों में ही विद्वन्मात्र का अधिकार होने के कारण पद, स्वर और अक्षर का ज्ञान कर विद्वान् होने के लिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए। तत्त्वालोककार के अनुसार यजमान को यजन के फल से स्वर्गादि की अप्रत्यक्ष प्राप्ति होती है। याजक को धनादि का लाभ प्रत्यक्ष ही है।

पदशः, स्वरशः, अक्षरशः पदों में शस् प्रत्यय "संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम्" इस सूत्र से हुआ है।

मूलम्—चत्वारि—

"चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
महो देवो मर्त्यां आविवेश॥" इति

चत्वारि शृङ्गाणि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च। त्रयो अस्य पादाः। त्रयः काला भूतभविष्यद्वर्तमानाः। द्वे शीर्षे। द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्च। सप्त हस्तासो अस्य। सप्त विभक्तयः। त्रिधा बद्धः। त्रिषु स्थानेषु बद्ध उरसि, कण्ठे, शिरसीति। वृषभो वर्षणात्। रोरवीति शब्दं करोति।
कुत एतत्?

रौतिः शब्दकर्मा। महो देवो मर्त्यां आविवेशेति। महान्देवः शब्दः। मर्त्या मरणधर्माणो मनुष्यास्तानाविवेश। महता देवेन नः साम्यं यथा स्यादित्यध्येयं व्याकरणम्।

अपर आह—

"चत्वारि वाक्परिमिता पदानि
तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति
तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥"

'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि ।' चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च । 'तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।' मनस ईषिणो मनीषिणः 'गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति ।' न चेष्टन्ते न निमिषन्तीत्यर्थः । 'तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ।' तुरीयं वा एतद्वाचो यन्मनुष्येषु वर्तते चतुर्थमित्यर्थः । चत्वारि ।

प्रदीपः—चत्वारि । शब्दस्य वृषभत्वेन निरूपणम् । त्रयः काल। इति । लडादिविषयाः । नित्यः कार्यश्चेति । व्यङ्ग्यव्यञ्जकभेदेन । सप्त विभक्तय इति । सुप इत्यर्थः । केचित्तु तिङामपरिग्रहप्रसङ्गात्सह शेषेण सप्त कारकाणि विभक्तिशब्दाभिधेयानीति व्याचक्षते । वर्षणादिति । कामानां ज्ञानपूर्वकानुष्ठानफलत्वात् । महतेति । परेण ब्रह्मणेत्यर्थः । चत्वारीत्यनेनैकदेशेन सदृशेन वाक्यान्तरमपि सूच्यत इत्याह—अपर आहेति । परिमितानीति प्राप्ते शेश्छन्दसि बहुलमिति शेर्लोपः परिमितेति भवति । परिमितानि परिच्छिन्नान्येतावन्त्येवेत्यर्थः । मनीषिशब्दः पृषोदरादित्वात्साधुः । कथं मनीषिण एव विदन्तीत्याह—गुहेति । अज्ञानमेव गुहा तस्यामित्यर्थः । सुपां सुलुगिति सप्तम्या लुक् । व्याकरणप्रदीपेन तु तानि प्रकाशन्ते । तत्र चतुर्णां पदजातानामेकैकस्य चतुर्थभागं मनुष्या अवैयाकरणा वदन्ति । नेङ्गयन्तीत्यस्यैव व्याख्यानं न चेष्टन्ते, न निमिषन्तीति ।

अनुवाद—इसके चार सींग हैं, तीन पैर, दो सिर (और) इसके सात हाथ हैं । तीन स्थानों से बँधा हुआ वृषभ शब्द करता है । (ऐसे) महान् देव ने मनुष्यों में प्रवेश किया है ।

चार सींग पदराशियाँ हैं—नाम,आख्यात, उपसर्ग और निपात । इसके तीन पाद तीन काल हैं—भूत, वर्तमान और भविष्यत् । दो सिर नित्य और कार्यरूप दो शब्द हैं । सात विभक्तियाँ हैं । "त्रिधा बद्धः" (का अर्थ है) तीन स्थानों छाती, कण्ठ व सिर से बँधा हुआ । वृष्टि करने के कारण वह वृषभ है । रोरवीति (का अर्थ है) शब्द करता है ।

यह कैसे (जाना) ?

'रु' धातु शब्दकर्मक है ।

"महान् देव मनुष्यों में प्रविष्ट हुआ है", इसमें महान् देव 'शब्द' का वाचक है (अर्थात्) (शब्द) मरणधर्मा मनुष्यों में प्रविष्ट हुआ है । (उस) महान् देव (शब्द) के साथ हमारा सायुज्य हो, इसलिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए ।

अन्य (व्यक्ति) कहता है—वाणी चार पदों में परिच्छिन्न है। उन्हें (चार पदों को) मनीषी ब्राह्मण जानते हैं। (उनके) तीन भाग गुहा में निहित हैं (जो) चेष्टा नहीं करते। मनुष्य (अवैयाकरण) (तो) उनका चतुर्थ भाग ही बोलते हैं।

'वाणी चार पदों में परिच्छिन्न है', (यह) वाणी के चार पदों नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात (का वाचक है)। जो मनीषी ब्राह्मण हैं, (वे) उन्हें जानते हैं। मन के वशीकर्त्ता मनीषी हैं। 'गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति' (का अर्थ है कि) (उनमें से) तीन गुहा में निहित चेष्टा नहीं करते, झपकते नहीं। यह वाणी का तुरीय अर्थात् चतुर्थ भाग है जो (साधारण) मनुष्यों में रहता है। चत्वारि।

उषा—ऋग्वेद के इस मन्त्र की व्याख्या यास्क ने अपने निरुक्त में भी की है परन्तु उसका विवेचन देवयज्ञ को लक्ष्य बनाकर प्रवृत्त हुआ है। पतञ्जलि ने यहाँ शब्द का वृषभ के रूप में निरूपण किया है। शब्द रूप वह महान् देव मर्त्यधर्मा मनुष्यों में उनके आर्थिक व्यवहारों के सम्पादन के लिए आविर्भूत हुआ है—

> इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
> यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यति॥ (काव्यादर्श १।४)

उस महान् वृषभ रूप शब्द के नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात रूप चार सींग हैं। "नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च" में अनुक्तसमुच्चयार्थक चकार के अर्थ को ग्रहण करके नागेश ने इनका विवेचन परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी रूप में भी किया है।

अभ्यासार्थक √म्ना से व्युत्पन्न नाम शब्द सुबन्तका तथा आख्यात शब्द तिङन्त का वाचक है। उपसर्ग और निपात का पृथगुपादान गोबलीवर्दन्याय से किया गया है। तीन पादों से इसके तीन काल भूत, वर्त्तमान और भविष्यत् वाच्य हैं। वर्त्तमान काल लट् लकार का विषय है, भूतकाल लिट्, लङ् और लुङ् लकारों से वाच्य होता है, लुट् और लृट् लकार भविष्यत् के विषय हैं। "द्वे शीर्षे" पद का व्याख्यान शब्द की नित्य और कार्य रूप दो अवस्थाओं को आधार बनाकर किया गया है। नित्य शब्द स्फोट रूप तथा व्यंग्य है, कार्य शब्द ध्वनि रूप तथा स्फोट का व्यंजक है। भर्तृहरि ने शब्द के इन दो रूपों का व्याख्यान इस कारिका में किया है—

> द्वावुपादानशब्देषु शब्दौ शब्दविदो विदुः।
> एको निमित्तं शब्दानामपरोऽर्थे प्रयुज्यते॥

सात हाथ इसकी सात विभक्तियों के वाचक हैं। सम्बन्ध के कारकों में परिगणित न होने के कारण कारकों की सात विभक्तियों के रूप में उद्भावना नहीं की जा सकती, कारक छः ही होते हैं। वह उरस्, कण्ठ और शिर रूप तीन

स्थानों में बद्ध है। इस प्रकार के महान् शब्दब्रह्म रूप देव के साथ सायुज्य प्राप्ति की बात भर्तृहरि ने इस प्रकार की थी—

अपि प्रयोक्तुरात्मानं शब्दमन्तरवस्थितम्।
प्राहुर्महान्तमृषभं येन सायुज्यमिष्यते ॥

एक अन्य मन्त्र में भी वाणी का पदविभाजन चार रूपों में किया गया है। मनीषी लोग नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात रूप चारों बिभागों में विभक्त पदों की परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी रूप चारों स्थितियों को जानते हैं।

परा वाङ्मूलचक्रस्था पश्यन्ती नाभिसंस्थिता।
हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी कण्ठदेशगा ॥

इनमें से परा, पश्यन्ती और मध्यमा रूप प्रथम तीन ज्ञान-सामान्य का विषय नहीं हो सकतीं। केवल वैयाकरण ही उसका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। साधारण मनुष्य केवल वैखरी रूप चतुर्थ भाग को ही जानते हैं क्योंकि यही सामान्य व्यक्ति के ज्ञान का विषय है। अन्यत्र भर्तृहरि ने वाणी के तीन रूपों की ही चर्चा की है—

वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम्।
अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाचः परं पदम् ॥

उनके अनुसार परा रूप वाणी व्याकरण के विवेचन का विषय नहीं बनती।

मूलम्—उत त्वः—

"उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाच-
मुत त्वः शृष्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे
जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥"

उत त्वः अपि खल्वेकः पश्यन्नपि न पश्यति। अपि खल्वेकः शृण्वन्नपि न शृणोत्येनामिति। अविद्वांसमाहार्धम्। उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे तनुं विवृणुते। जायेव पत्य उशती सुवासाः। तद्यथा जाया पत्ये कामयमाना सुवासाः स्वमात्मानं विवृणुते, एवं वाग्योगविदे स्वात्मानं विवृणुते। वाङ्नो विवृणुयादात्मानमित्यध्येयं व्याकरणम्। उत त्वः।

प्रदीपः—उत त्व इति। त्वशब्दोऽन्यवाची। उतशब्दोऽपि शब्दस्यार्थे। स च भिन्नक्रमः। प्रत्यक्षेण शब्दस्वरूपमुपलभमानोऽप्यर्थापरिज्ञानान्न पश्यतीत्यर्थः। उतो इति। उत उ इति निपातसमाहारः अविद्वांसमाहार्धमिति। अविद्वल्लक्षण-मर्थमर्धर्चं आहेत्यर्थः।

अनुवाद—"कोई एक देखता हुआ भी वाणी को नहीं देखता, कोई एक सुनता हुआ भी इसे नहीं सुनता। किसी अन्य एक के लिए (वाणी) पति के सम्मुख शुभ्र वस्त्र धारण किये हुए कामयमाना पत्नी के समान अपने शरीर को अनावृत कर देती है।"

कोई एक (मनुष्य) देखता हुआ भी वाणी को नहीं देखता है, कोई एक सुनता हुआ भी इसे नहीं सुनता है। यह आधा भाग अविद्वान् के विषय में कहा है। 'उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे' (का अभिप्राय है कि) अन्य एक के लिए वह अपने शरीर को अनावृत कर देती है, जैसे सुन्दर वस्त्र धारण करने वाली कामयमाना पत्नी पति के सम्मुख अपने शरीर को अनावृत कर देती है। वाणी हमारे सम्मुख भी (इसी प्रकार) अपने को अनावृत कर दे, इसलिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए। उत त्वः।

उषा :—प्रस्तुत वैदिक ऋचा वाक्तत्त्व की एवं अर्थतत्त्व की अवश्यं-प्रापणीयता की ओर संकेत करती है। वाणी का फल अर्थपरिज्ञान है और अर्थ की प्राप्ति यदि नहीं होती तो शब्दज्ञान भी महत्त्वहीन होकर रह जाता है। अर्थात्मक विज्ञान से हीन होने पर अध्ययन में अभ्यस्त तथा तीक्ष्ण बुद्धि व्यक्ति भी वाक्तत्त्व का दर्शन नहीं कर पाता। दूसरा व्यक्ति वाणी को सुनता हुआ भी यथार्थ में नहीं सुन पाता क्योंकि अर्थज्ञान की हीनता की स्थिति में वह श्रवण भी अर्थहीन होकर रह जाता है।

क्योंकि अर्थतत्त्व वस्तुतः वाक्तत्त्व का शरीर है और वाक्तत्त्व और अर्थ-तत्त्व की आत्मा, अतः एक अन्य व्यक्ति जिसने वाक्तत्त्व का सम्यक् अध्ययन तथा अर्थतत्त्व का अनुशीलन किया है, उसके सम्मुख वाणी अपने शरीर को उसी प्रकार से अनावृत कर देती है जैसे ऋतुकाल के उपरान्त सद्यः स्नाता स्त्री अपने स्वरूप को पति के सम्मुख प्रकट कर देती है। प्रकृति प्रत्ययादि के ज्ञान से युक्त वह वैयाकरण वाणी के अर्थ को सम्यक् ग्रहण करके उसका दर्शन और श्रवण करता है। यह वाणी हमारे सम्मुख भी उसी प्रकार से अनावृत और प्रकाशित हो जाये, इसलिए व्याकरण का अध्ययन अपरिहार्य है।

विसस्रे—वि + √सृ + लिट् प्र०पु० एक व०।

उशती—√वश + शतृ + ङीष्।

मूलम्—सक्तुमिव—

"सक्तुमिव तितउना पुनन्तो
यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखाय: सख्यानि जानते
भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि॥"

सक्तु—सचतेर्दुर्धावो भवति। कसतेर्वा विपरीताद् विकसितो भवति। तितउ परिपवनं भवति—ततवद्वा तुन्नवद्वा। धीरा ध्यानवन्तः। मनसा प्रज्ञानेन। वाचमक्रत वाचमकृषत।

अत्र सखायः सख्यानि जानते। अत्र सखायः सन्तः सख्यानि जानते। क्व?

य एष दुर्गो मार्गः, एकगम्यो वाग्विषयः ।
के पुनस्ते ?
वैयाकरणाः ।
कुत एतत् ?
भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि । एषां वाचि भद्रा लक्ष्मीर्निहिता भवति । लक्ष्मीर्लक्षणाद्भासनात्परिवृढा भवति । सक्तुमिव ।

प्रदीपः—सचतेरिति । षच सेचन इत्यस्य । दुर्धाव इति । दुःशोधः । यथा तितउना सक्तोस्तुषाद्यपनीयते तथा व्याकरणेन वाचोऽपशब्दा इत्यर्थः । कसतेरिति । पृषोदरादित्वाद्वर्णव्यत्ययः । ततवदिति । विस्तारयुक्तमित्यर्थः । तुन्नवदिति । बहुच्छिद्रम् धीरा इति । वैयाकरणाः । वाचमक्रतेति । अपरशब्देभ्यो विविक्तां कृतवन्तः । मन्त्रे घसेति च्लेर्लुकि सत्यक्रतेति रूपम् । अत्रा सखाय इति । ऋचि तुनुघेति दीर्घः । सखायः समानख्यातयो भेदग्रहस्य निवृत्तत्वात्सर्वमेकमिति मन्यन्ते । सख्यानीति । सायुज्यानीत्यर्थः । एकगम्य इति । ज्ञानेनैव प्राप्यः । वाचीति । वेदाख्ये ब्रह्मणि या लक्ष्मीर्वेदान्तेषु परमार्थसंविल्लक्षणोक्ता सैषां निहितेत्यर्थः ।

अनुवाद—"पवित्र से सत्तु के समान जहाँ धीर लोग मन से पुनकर वाणी का व्याकरण करते हैं वहाँ समान ख्याति वाले मनुष्य सायुज्य का अनुभव करते हैं । कल्याणमयी लक्ष्मी इनकी वाणी में निहित होती है ।"

'सक्तुः' सच् धातु से बना है (क्योंकि) इसे धोना कठिन होता है । अथवा कस् धातु से आद्यन्तविपर्यय करके (क्योंकि) बिकसित होता है । 'तितउ' पवित्र (छलनी) को कहते हैं (क्योंकि) यह विस्तार वाली होती है, अथवा छिद्रों वाली होती है । धीर (वे हैं जो) ध्यानवान् होते हैं । मनसा (का अर्थ है) प्रकृष्ट ज्ञान से । वाचमक्रत (अर्थात्) वाणी को व्याकृत किया ।

यहाँ समान ख्याति वाले होकर सायुज्य का अनुभव करते हैं ।
कहाँ ?
यह जो दुर्गम, एकमात्रगम्य वाणी का मार्ग है ।
वे कौन हैं ?
वैयाकरण ।
यह कैसे (कहा) ?
(क्योंकि) इनकी वाणी में कल्याणमयी लक्ष्मी निहित होती है । लक्ष्मी (वह है जो) लक्षण करती है (अर्थात्) चमकती है (अपि च) विस्तार वाली होती है । सक्तुमिव ।

उषा—प्रस्तुत मन्त्र व्याकरण के मोक्षजनकत्व का ज्ञापक है । छलनी से जिस प्रकार सत्तुओं को शुद्ध किया जाता है, उसी प्रकार से वैयाकरण व्याकरण के

प्रकृष्ट ज्ञान से शब्दों का संस्कार करते हैं। शब्द-अपशब्द का विवेक होने के कारण वे केवल साधु शब्दों का प्रयोग करते हैं और अपशब्दों का परिहार करते हैं। इस प्रकार सुशब्द के ज्ञानपूर्वक प्रयोग करने से वे वाक्तत्त्व के साथ सायुज्य को प्राप्त करते हैं। इससे उनकी द्वैतबुद्धि मिट जाती है, अद्वैतभाव उत्पन्न हो जाने के कारण वे सम्पूर्ण जगत् को शब्दब्रह्ममय अनुभव करते हैं, अतश्च वे भी ब्रह्ममय ही हो जाते हैं, क्योंकि "तज्ज्ञात्वा तदेव भवति" ऐसा श्रुति में कहा गया है।

कैयट ने यहाँ कहा है कि वेदब्रह्म में जिसे लक्ष्मी कहा गया है तथा वेदान्त दर्शन में जो परमार्थसंविल्लक्षणा सिद्धि के नाम से व्याख्यात हुई है, वही लक्ष्मी वैयाकरणों की वाणी में निहित है। नागेश ने इसका भाव स्पष्ट करते हुए इसका सम्बन्ध उस शब्दब्रह्म से स्थापित किया है जो अर्थतत्त्व के साथ अभिन्नता को प्राप्त कर अद्वैत रूप में स्थित है।

ब्रह्मतत्त्व की प्राप्ति का उपाय निर्विकल्प समाधि है, इसके कठिनता से प्राप्त हो सकने के कारण ही इसे (वाणी के मार्ग को) "दुर्गो मार्ग एकगम्यो..." कहा गया है। "एकगम्यः" से अभिप्राय है कि इसकी (ब्रह्मतत्त्व की) प्राप्ति का और कोई उपाय भी सम्भव नहीं—"नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।"

भाष्यकार ने 'तितउ' शब्द का नपुंसकलिङ्ग में प्रयोग किया है, जबकि अन्यत्र अमरकोश में यह पुंल्लिङ्ग पढ़ा गया है— "चालनी तितउः पुमान्।"

मूलम्—सारस्वतीम्—

याज्ञिकाः पठन्ति—"आहिताग्निरपशब्दं प्रयुज्य प्रायश्चित्तीयां सारस्वतीमिष्टिं निर्वपेद्" इति।

प्रायश्चित्तीया मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम्। सारस्वतीम्।

प्रदीपः—**प्रायश्चित्तीयामिति।** भवार्थे वृद्धाच्छः। **प्रायश्चित्तीया इति।** प्रायश्चित्ताय पापशोधनाय श्रुतिस्मृतिविहिताय कर्मणे हितास्तन्निमित्तोपादाना मा भूमेत्यर्थः।

अनुवाद—मीमांसक पढ़ते हैं कि "अग्न्याधान करके अपशब्द का प्रयोग (करने पर) प्रायश्चित्त स्वरूप सारस्वती इष्टि का सम्पादन करे।" (हमें) प्रायश्चित्त न करना पड़े इसलिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए। सारस्वतीम्।

उषा—भाष्यस्थ "आहिताग्निः" शब्द के अनन्तर 'यज्ञमध्ये' शब्द का अध्याहार करना होगा। अर्थात् वह पुरुष जिसने अग्न्याधान किया है, यदि वह यज्ञ में अपशब्द का प्रयोग करता है तो उस पाप के प्रक्षालन के लिए सारस्वती इष्टि का निर्वाप करना पड़ता है। हमें आहिताग्नि होने पर अपशब्द के प्रयोग से पाप प्रक्षालन के लिए प्रायश्चित्त ही न करना पड़े, इसलिए हमें व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए।

"दुष्टः शब्दः", ',यस्तु प्रयुङ्क्ते" इत्यादि अन्य प्रयोजनों में यद्यपि अपशब्द के प्रयोग से होने वाले दोष की ओर संकेत किया गया है तथापि यहाँ यज्ञ में अपशब्द के प्रयोग से होने वाले दोष का पृथक् आख्यान किया गया है क्योंकि यज्ञ में अपशब्द का प्रयोग करने से यज्ञ और पुरुष दोनों को ही दोष लगता है, जबकि अन्यत्र दोषभाक् केवल पुरुष ही होता है। "आहिताग्नि" पद का उपादान प्रस्तुत निषेधवाक्य के यज्ञगत होने का संकेत देता है।

प्रायश्चित्तीय शब्द में 'वृद्धाच्छः' सूत्र से 'छ' प्रत्यय हुआ है।

मूलम् –दशम्यां पुत्रस्य—

याज्ञिकाः पठन्ति—दशम्युत्तरकालं पुत्रस्य जातस्य नाम विदध्याद् घोषवदाद्यन्तरन्तःस्थमवृद्धं त्रिपुरुषानूकमनरिप्रतिष्ठितम्। तद्धि प्रतिष्ठिततमं भवति। द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा नाम कृतं कुर्यान्न तद्धितम् इति।

न चान्तरेण व्याकरणं कृतास्तद्धिता वा शक्या विज्ञातुम्। दशम्यां पुत्रस्य।

प्रदीपः—**दशम्युत्तरकालमिति**। दशम्या उत्तर इति। **पञ्चमीति** योगविभागात्समासः। ततः कालशब्देन बहुव्रीहिः। क्रियाविशेषणं चैतत्। दश दिनान्यशौचं भवतीति दशम्युत्तरकालमित्युक्तम्। येऽपि गृह्यकाराः पठन्ति **दशम्यां पुत्रस्येति**, तैरपि दशम्यामिति सामीपिकमधिकरणं व्याख्येयम्। **घोषवदादीति**। घोषवन्तो ये वर्णाः शिक्षायां प्रदर्शितास्तदादि। **अन्तरन्तःस्थमिति**। मध्ये यरलवा यस्य तदित्यर्थः। **त्रिपुरुषानूकमिति**। नामकरणे योऽधिकारी पिता तस्या ये त्रयः पुरुषास्ताननुकायत्यभिधत्त इति त्रिपुरुषानूकम्। **अन्येषामपि दृश्यत** इति दीर्घः।

अनुवाद—मीमांसक कहते हैं—"दशमी (रात्रि) के अनन्तर उत्पन्न पुत्र का नामकरण करना चाहिए जो आदि में घोष वर्ण वाला हो, बीच में अन्तःस्थ वर्ण वाला हो, वृद्ध स्वरों (आदैच्) से युक्त न हो, जो (पिता के) तीन पूर्वपुरुषों के नाम का स्मरण कराता हो (तथा) जो शत्रु में प्रसिद्ध न हो। वह प्रतिष्ठिततम होता है। दो अक्षरों वाला अथवा चार अक्षरों वाला कृदन्त नाम करना चाहिए, तद्धित नहीं। व्याकरणाध्ययन के बिना कृदन्त अथवा तद्धित प्रत्ययों का विशिष्ट ज्ञान नहीं हो सकता। दशम्यां पुत्रस्य।

उषा—नामकरण में भी व्याकरणाध्ययन का प्रयोजन है। वैदिक लोग जातकर्म संस्कार के अनन्तर बालक के नामकरण संस्कार का उल्लेख करते हैं। उत्पन्न पुत्र का दस दिन के उपरान्त नामकरण संस्कार किया जाना चाहिए। इससे पूर्व अशौच के कारण यह संस्कार नहीं किया जाता। मनुस्मृतिकार ने भी दसवें अथवा बारहवें दिन नामकरण का निर्देश किया है—

नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वाऽस्य कारयेत्। मनु० २।३०.

नाम के आदि में घोष वर्ण होना चाहिए (हशः संवारा नादा घोषाश्च)। नाम के मध्य में अन्तस्थ वर्ण होना चाहिए (यणोऽन्तस्थाः)। वृद्ध स्वरों से युक्त नाम नहीं

होना चाहिए (वृद्धिरादैच्)। अपि च नामकरण के अधिकारी पिता के तीन पूर्व-पुरुषों का स्मरण कराने वाला तथा शत्रुकुल में अप्रसिद्ध नाम सबसे अधिक प्रतिष्ठित होता है। यह बहुत बड़ा न होकर दो अथवा चार अक्षरों का कृत्प्रत्ययांत होना चाहिए, तद्धितान्त नहीं। तद्धितान्त का निषेधमुखेन स्पष्ट उल्लेख यह बताता है कि तद्धितान्त नाम न केवल पुण्य-प्राप्ति में बाधक ही होता है प्रत्युत उससे अधर्म की प्राप्ति होती है। यह कृत् और तद्धित प्रत्ययों का ज्ञान व्याकरण के बिना नहीं हो सकता।

मूलम्—सुदेवो असि—

सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः।
अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव॥

सुदेवो असि वरुण सत्यदेवोऽसि। **यस्य ते सप्त सिन्धवः सप्त विभक्तयः। अनुक्षरन्ति काकुदम्।** काकुदं तालु। काकुर्जिह्वा, साऽस्मिन्नुद्यत इति **काकुदम्। सूर्म्यं सुषिरामिव।** तद्यथा—शोभनामूर्मिं सुषिरामग्निरन्तः प्रविश्य दहति, **एवं ते सप्त सिन्धवः** सप्त विभक्तयस्ताल्वनुक्षरन्ति। तेनासि सत्यदेवः। **सत्यदेवाः स्यामेत्यध्येयं व्याकरणम्। सुदेवो असि।**

प्रदीपः—सुदेवो असीति। वरुणस्येयं स्तुतिः। यतो हेतोर्व्याकरणज्ञानाद्वरुण सत्यदेवोऽसि ततो हेतोरन्येपि सत्यदेवा भवन्तीत्यर्थः। **सिन्धव इति।** नद्य इव विभक्तय इत्यर्थः। **अनुक्षरन्तीति।** ताल्वनुप्राप्य प्रकाशन्त इत्यर्थः। **सास्मिन्नुद्यत इति।** अनेकार्थत्वाद्धातूनामुत्क्षिप्यत इत्यर्थः। **सूर्म्यमिति।** सूर्मीमिति प्राप्ते **अमि पूर्व** इत्यत्र वा छन्दसीत्यनुवृत्त्या यणादेशः।

अनुवाद—'हे वरुण ! तुम सत्यदेव हो जिसकी सात नदियाँ (सात विभक्तियाँ) सच्छिद्रा लोहप्रतिमा में अग्नि की तरह तालु में बहती हैं।'

हे वरुण तुम सुदेव हो (अर्थात्) सत्यदेव हो, तुम्हारी सात नदियाँ सात विभक्तियाँ हैं। (वे) तालु में क्षरित होती हैं। काकुद तालु को कहते हैं (क्योंकि) काकु (नाम है) जिह्वा का (और) वह उसमें उठाकर लगाई जाती है इसलिए वह काकुद हैं। 'सूर्म्यं सुषिरामिव' (का तात्पर्य है) जैसे कि अग्नि सुन्दर सच्छिद्रा लोह प्रतिमा के अन्दर प्रविष्ट होकर जलाती है इसी प्रकार से तुम्हारी सात सिन्धु रूप सात विभक्तियाँ तालु में क्षरित होती हैं। इसी से तुम सत्यदेव हो। **हम भी सत्य-देव हों, इसलिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए। सुदेवो असि।**

उषा—वरुण व्याकरणज्ञान से युक्त होने के कारण सत्यदेव है। अग्नि सुन्दर लौह प्रतिमा में जिस प्रकार प्रविष्ट होकर उसे प्रतिभासित करती है, उसी प्रकार से व्याकरण की सात विभक्तियाँ उसके तालु प्रदेश में प्रवाहित होती हुईं उसे सत्यदेव बनाती हैं। व्याकरणज्ञान से शब्दब्रह्म का प्रकाश प्राप्त कर साधक सांसारिक पापों से विमुक्त होकर परब्रह्म को प्राप्त करता है—"शब्दब्रह्मणि

निष्णातः परब्रह्माधिगच्छति ।'' यही उसका सत्यदेवत्व है । हम भी वरुण के समान ही इस उच्च प्रतिष्ठित पद को प्राप्त हों, इसके लिए व्याकरण का अध्ययन अनिवार्य है ।

मूलम्—किं पुनरिदं व्याकरणमेवाधिजिगांसमानेभ्यः प्रयोजनमन्वाख्यायते, न पुनरन्यदपि किञ्चित् । ओमित्युक्त्वा वृत्तान्तशः शमित्यादीन् शब्दान्पठन्ति । पुराकल्प एतदासीत्—संस्कारोत्तरकालं ब्राह्मणा व्याकरणं स्माधीयते । तेभ्यस्तत्तत्स्थानकरणानुप्रदानज्ञेभ्यो वैदिकाः शब्दा उपदिश्यन्ते । तदद्यत्वे न तथा । वेदमधीत्य त्वरिता वक्तारो भवन्ति—"वेदान्नो वैदिकाः शब्दाः सिद्धा लोकाच्च लौकिकाः । अनर्थकं व्याकरणमिति ।" तेभ्य एवं विप्रतिपन्नबुद्धिभ्योऽध्येतृभ्यः सुहृद्भूत्वा आचार्य इदं शास्त्रमन्वाचष्टे । इमानि प्रयोजनान्यध्येयं व्याकरणमिति ।

प्रदीपः—किं पुनरिति । ननु कानि पुनरस्येति येन पृष्टं स एव कथं पृच्छति—किं पुनरिति । एवं तर्हि भाष्यकारः प्रयोजनान्वाख्यानस्य विषयविभागं दर्शयति । पुरा वेदाध्ययनात्पूर्वं व्याकरणमधीयते ते बाल्यात्प्रष्टुमसमर्था इति न प्रयोजनमन्वाख्येयम् । अद्यत्वे तु स्वल्पायुष्ट्वात्पूर्वमेव वेदं प्रधानमधीयते ततः प्रष्टुं समर्थत्वाद्व्याकरणाध्ययनस्य प्रयोजनं पृच्छन्तीत्यवश्यान्वाख्येयं प्रयोजनम् न पुनरन्यदिति । वेदमप्यधिजिगांसमानेभ्य इत्यर्थः । **ओमित्युक्त्वेति** । अभ्युपगम्येत्यर्थः । **वृत्तान्तश इति** । वृत्तान्तः प्रपाठक उच्यते । वृत्तान्तं वृत्तान्तं पठन्तीत्यर्थः । **अद्यत्व इति** । अद्यत्वेशब्दो निपातोऽस्मिन्काल इत्यत्रार्थे वर्तते । **त्वरिता इति** । विवाहादौ ।

अनुवाद—क्या फिर यह व्याकरण पढ़ना चाहने वालों के लिए प्रयोजन बताये जा रहे हैं या कुछ और भी ? (वेद पढ़ना चाहने वाले) 'ओम्' ऐसा कहकर प्रति प्रपाठक 'शम्' पर्यन्त शब्दों को पढ़ते हैं। पुराकाल में ऐसा था कि (उपनयन) संस्कार के अनन्तर ब्राह्मण व्याकरण का अध्ययन करते थे । तत्तत् वर्णोच्चारण-स्थान, करण और अनुप्रदान जान लेने पर उन्हें वैदिक शब्दों का उपदेश किया जाता था । आजकल वैसा नहीं है । (पहले) वेद का अध्ययन करके शीघ्र ही कहने लगते हैं, वेद से हमने वैदिक शब्द जान लिये हैं, लोक से लौकिक । इसलिए व्याकरण अनर्थक है । उन्हीं विप्रतिपन्न बुद्धि वाले अध्येताओं को सुहृद होकर आचार्य इस शास्त्र का आख्यान करते हैं—"ये प्रयोजन हैं, (इसलिए) व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए ।"

उषा—उपनयन संस्कार के अनन्तर बालक को वेद का अध्ययन करवाया जाता है, अतः ऐसी परिस्थिति में वेदाध्ययन के प्रयोजनों का अन्वाख्यान होना चाहिए था, व्याकरणाध्ययन के प्रयोजनों का नहीं । इसी आशङ्का के अनुरोध से भाष्यकार ने कहा है कि पुरा काल में ब्राह्मण बालक को उपनयन संस्कार के अनन्तर पहले व्याकरण का अध्ययन करवाया जाता था । सइ समय में विभिन्न

उच्चारण स्थानों, पिभिन्न आभ्यन्तर तथा बाह्य प्रयत्नों का उपदेश किया जाता था। बाल्यावस्था होने के कारण वे इस प्रकार के (प्रयोजनादि विषयक) प्रश्न पूछने में असमर्थ होते थे, अतः प्रयोजनों का व्याख्यान भी नहीं किया जाता था। व्याकरणाध्ययन पूर्ण हो जाने के अनन्तर उन्हें वेदाध्ययन करवाया जाता था। परन्तु आज स्थिति विपरीत है। अब उपनयन के अनन्तर ही छात्र वेदाध्ययन प्रारम्भ कर देता है। जब तक वेदाध्ययन समाप्त हो, छात्र में पर्याप्त प्रौढ़ता आ जाती है। वेद का अध्ययन कर वह झट से कहने लगता है कि लौकिक व्यवहार से उसने लौकिक भाषा का ज्ञान प्राप्त कर लिया है तथा वेद से वैदिक शब्दों को सीख लिया है, व्याकरण का प्रयोजन भी तो यही है। अतः अब पृथक् रूप से व्याकरण सीखने का कोई लाभ नहीं। इस प्रकार के विप्रतिपन्न बुद्धि वाले अध्येताओं के लिए भाष्यकार ने इन प्रयोजनों का अन्वाख्यान किया है।

यहाँ "त्वरिताः" के सम्बन्ध में कैयट की टिप्पणी "विवाहादौ (त्वरिताः)" भाष्यकाराभिमत है अथवा नहीं, यह सन्दिग्ध है।

मूलम्—उक्तः शब्दः। स्वरूपमप्युक्तम्। प्रयोजनान्यप्युक्तानि। शब्दानुशासनमिदानीं कर्त्तव्यम्। तत्कथं कर्त्तव्यम्। किं शब्दोपदेशः कर्त्तव्यः, आहोस्विदपशब्दोपदेशः, आहोस्विदुभयोपदेश इति।

अन्यतरोपदेशेन कृतं स्यात्। तद्यथा भक्ष्यनियमेनाभक्ष्यप्रतिषेधो गम्यते। 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' इत्युक्ते गम्यत एतद्—अतोऽन्येऽभक्ष्या इति। अभक्ष्यप्रतिषेधेन वा भक्ष्यनियमः। तद्यथा 'अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटः अभक्ष्यो ग्राम्यसूकरः' इत्युक्ते गम्यत एतद्—आरण्यो भक्ष्य इति। एवमिहापि तावच्छब्दोपदेशः क्रियते, गौरित्येतस्मिन्ननुपदिष्टे गम्यत एतद्—गाव्यादयोऽपशब्दा इति। अथाप्यपशब्दोपदेशः क्रियते, गाव्यादिषूपदिष्टेषु गम्यत एतद्—गौरित्येष शब्द इति।

किं पुनरत्र ज्यायः?

लघुत्वाच्छब्दोपदेशः। लघीयाञ्छब्दोपदेशः। गरीयानपशब्दोपदेशः। एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशा। तद्यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावीगोणीगोतागोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः। इष्टान्वाख्यानं खल्वपि भवति।

प्रदीपः—उभयोपदेश इति। हेयोपादेयोपदेशे स्पष्टा प्रतिपत्तिर्भवतीत्युभयोपदेश उद्भावितः। यद्यपि प्रतिपत्तिः स्पष्टा, गौरवं तु भवतीत्याह अन्यतरेति। शब्दापशब्दयोरित्यर्थः। अन्यतरान्यतमशब्दावव्युत्पन्नौ स्वभावाद् द्विबहुविषये निर्धारणे वर्तेते। पञ्चेति। अर्थित्वादभक्षणं प्राप्तं पञ्चसु पञ्चनखेषु नियम्यमानं सामर्थ्यादन्येभ्यो निवर्तते। न त्वयं विधिः, अप्राप्तेरभावात्।

किं पुनरिति। उभयोपदेशाद् गुरोर्द्वावपि प्रशस्यौ तयोः को ज्यायानित्यर्थः। इष्टेति। साधुशब्दप्रयोगाद्धर्मावाप्तेरित्यर्थः। अथवा उपादेयोपदेशात्साक्षात्प्रतिपत्तिर्भवतीति भावः।

अनुवाद—(व्याकरण का विषयभूत) शब्द कह दिया गया है। (शब्द का) स्वरूप भी कहा गया है। (प्रसङ्गानुसार) प्रयोजन भी बताये गये हैं। अब शब्दानुशासन करना चाहिए। तो वह कैसे करना चाहिए। क्या (साधु) शब्दों का उपदेश करना चाहिए अथवा अपशब्दों का उपदेश अथवा दोनों का उपदेश (करना चाहिए)।

किसी एक के उपदेश से काम हो सकता है। जैसे कि भक्ष्य (पदार्थों) का नियम करने से अभक्ष्य का प्रतिषेध समझा जाता है। 'पांच पञ्चनख प्राणियों का भक्षण करना चाहिए, ऐसा कहने पर समझा जाता है कि इसके अतिरिक्त अभक्ष्य हैं। इसी प्रकार अभक्ष्य के प्रतिषेध से भक्ष्य पदार्थों का नियम (किया जाता है)। जैसे 'ग्राम्य-कुक्कुट अभक्ष्य है,' 'ग्राम्य शूकर अभक्ष्य है,' ऐसा कहने पर आरण्य (कुक्कुट अथवा सूकर) भक्ष्य है, ऐसा समझा जाता है। यही बात यहाँ भी है। यदि (साधु) शब्दों का उपदेश किया जाता है, (तो) 'गौः' ऐसा उपदेश करने से यह समझ लिया जाता है कि 'गावी' आदि अपशब्द हैं। और भी यदि अपशब्दोपदेश किया जाता है तो 'गावी' आदि का उपदेश होने पर यह (स्वयं) समझ लिया जाता है कि 'गौः' यह शब्द है।

फिर यहाँ श्रेष्ठ कौन सा है ?

लघु होने से (साधु) शब्दोपदेश। शब्दोपदेश लघु है, अपशब्दोपदेश में गौरव है। (क्योंकि) एक-एक शब्द के बहुत से अपभ्रंश है। जैसे कि 'गौः' इस (एक) शब्द के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका इत्यादि अपभ्रंश हैं। और फिर इष्ट का अनुशासन भी होता है।

उषा—शब्द स्वरूप प्रतिपादन व्याकरण शास्त्र का विषयभूत है। सर्वप्रथम उसका निरूपण किया गया है। तदनन्तर व्याकरणाध्ययन के मुख्य और गौण प्रयोजनों का विवेचन है। सम्बन्ध और अधिकारी का पृथक् निर्देश यद्यपि नहीं है तथापि विषय और प्रयोजनों के प्रसङ्ग में उनका भी उल्लेख हो ही गया है। कहा जा सकता है कि शब्दज्ञान रूप प्रमेय और शब्दानुशासन रूप साधन का परस्पर बोध्यबोधक भाव सम्बन्ध है तथा "तेभ्य एव विप्रतिपन्नबुद्धिभ्योऽध्येतृभ्यः" इत्यादि के द्वारा शास्त्र के अधिकारी का निरूपण है।

अनुबन्धचतुष्ट्य का विवेचन करने के अनन्तर शास्त्र का प्रारम्भ होता है। साधु शब्दज्ञान तीन प्रकार से करवाया जा सकता है—(१)साधु शब्दों के उपदेश द्वारा, (२)अपशब्दों के उपदेश द्वारा, (३) साधु तथा असाधु उभयशब्दोपदेश द्वारा।

इनमें से उभय शब्दोपदेश रूप तृतीय साधन यद्यपि विषय के स्पष्ट प्रतिपादन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, परन्तु यह गौरव दोष से दूषित है। इसीलिए शब्दानुशासन की कथंकर्त्तव्यता पर विचार करते हुए इसका त्याग ही

कर दिया गया है, तथा अन्यतर उपदेश की बात कही गई है, तरप् प्रत्यय दो वस्तुओं की अपेक्षा-बुद्धि में प्रयुक्त होता है ।

"पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः" इत्यादि रूप में भक्ष्य पदार्थों का नियमन अपने से अतिरिक्त पदार्थों में अभक्ष्यत्व की प्रतीति करवाता है अथवा कहा जा सकता है कि इसका अर्थबोध तदितर पदार्थों के भक्ष्यत्व प्रतिषेध में पर्यवसित होता है । इसी प्रकार से सास्नादिमत्पदार्थ में अनुशिष्ट 'गो' शब्द इस बात का बोधक है कि इस अर्थ में प्रयुक्त होने वाले अन्य 'गावी' इत्यादि शब्द असाधु हैं ।

मीमांसादर्शन में यह उदाहरण नियमविधि का नहीं प्रत्युत परिसंख्या विधि का माना गया है—

विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति ।
तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते ।।

अर्थात् अत्यन्त अप्राप्त क्रिया की ज्ञापक विधि, अनेक विकल्पों के प्राप्त होने पर उनमें से एक का विधान नियम तथा अन्य वस्तुओं की निवृत्तफलकता परिसंख्या है । प्रस्तुत सन्दर्भ में नियम और परिसंख्या में अप्राप्तांशपरिपूरणरूपफल-बोधन द्वारा अन्य अर्थों की निवृत्ति रूप समानता होने के कारण नियम शब्द का प्रयोग परिसंख्या के अर्थ में किया गया है, ऐसा उद्योतकार का मत है । यहाँ भक्ष्य नियम का अर्थ है—भक्ष्यानुमतिरूप उपदेश ।

इसी प्रकार से 'गावी' आदि अपशब्दों का अनुशासन करने से यह ज्ञात हो जाता है कि इनके अतिरिक्त 'गो' शब्द साधु है जिसका सास्नादिमत्पदार्थ के बोधन में प्रयोग किया जाना चाहिए ।

इन दोनों में से भी साधु शब्दों का उपदेश लघु है, अपशब्दों के उपदेश से पुनः गौरव दोष आ जाता है । क्योंकि साधु शब्द एक ही होता है परन्तु देश और कालादि के भेद से उसके प्राकृत रूप अनेक बन जाते हैं । यथा सास्नादिमत्पदार्थ के बोधक एक ही 'गो' शब्द के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका इत्यादि अनेक अपभ्रष्ट रूप हैं । असाधु शब्दों के उपदेश में इन सभी का अनुशासन करना होगा, जो निश्चय ही साधु शब्दों के उपदेश की अपेक्षा गुरु है । अतः शब्दानुशासन में साधु शब्दों का प्रयोग ही ज्यायान् है ।

इसके अतिरिक्त साधु शब्द में अभ्युदय और निःश्रेयस् साधकत्व है और शास्त्र का उद्देश्य भी यही है । इसके विपरीत असाधु शब्द अधर्म का साधन है अतः इनका उपदेश करने से शास्त्र अनिष्टोपदेश के दूषण से दूषित हो जायेगा । यही बात वाक्यपदीयकार ने भी इन शब्दों में कही है—

धर्मे ये प्रत्यये चाङ्ग सम्बन्धाः साध्वसाधुषु । १।२५.
ते लिङ्गैश्च स्वशब्दैश्च शास्त्रेऽस्मिन्नुपवर्णिताः । १।२६.

इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि अपशब्दों का अनुशासन करना दुष्कर भी है। एक शुद्ध शब्द के विभिन्न देशों तथा प्रत्येक काल में प्रचलित समस्त प्राकृत रूपों को ढूंढना अपेक्षाकृत दुष्कर है। अपि च, यह पद्धति विषय का स्पष्ट प्रतिपादन कर पाने में भी सक्षम नहीं होगी क्योंकि अध्येता को विभिन्न प्राकृत रूपों का संकलन देखकर उनके अतिरिक्त एक साधु शब्द की प्राप्ति में पुनः प्रयास करना ही पड़ेगा।

मूलम्—अथैतस्मिञ्शब्दोपदेशे सति किं शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः कर्त्तव्यः। गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण इत्येवमादयः शब्दाः पठितव्याः? नेत्याह। अनभ्युपाय एष शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः। एवं हि श्रूयते—बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच। नान्तं जगाम।" बृहस्पतिश्च प्रवक्ता, इन्द्रश्चाध्येता, दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनकालो, न चान्तं जगाम, किं पुनरद्यत्वे। यः सर्वथा चिरं जीवति वर्षशतं जीवति। चतुर्भिश्च प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति—आगमकालेन, स्वाध्यायकालेन, प्रवचनकालेन, व्यवहारकालेनेति। तत्र चास्यागमकालेनैवायुः कृत्स्नं पर्युपयुक्तं स्यात्। तस्मादनभ्युपायः शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः।

कथं तर्हीमे शब्दाः प्रतिपत्तव्याः?

किञ्चित्सामान्यविशेषवल्लक्षणं प्रवर्त्यम्। येनाल्पेन यत्नेन महतो महतः शब्दौघान् प्रतिपद्येरन्।

किं पुनस्तत्?

उत्सर्गापवादौ। कश्चिदुत्सर्गः कर्त्तव्यः, कश्चिदपवादः। कथंजातीयकः पुनरुत्सर्गः कर्त्तव्यः, कथंजातीयकोऽपवादः?

सामान्येनोत्सर्गः कर्त्तव्यः। तद्यथा—"कर्मण्यण्"। तस्य विशेषेणापवादः। तद्यथा—"आतोऽनुपसर्गे कः।"

प्रदीपः—बृहस्पतिरिन्द्रायेति। प्रतिपदपाठस्याशक्यत्वं प्रतिपादयितुमयमर्थवादः। शब्दानामिति। शब्दपारायणशब्दो योगरूढः शास्त्रविशेषस्य, तत्र प्रतिपदोक्तानामिति विशेषणाभिधानाय गम्यमानार्थस्यापि शब्दानामित्यस्य प्रयोगः। एकदेशोपयोगादपि लोके उपयुक्तमित्युच्यते, यथौषधसंस्कृतघृतमात्रैकदेशोपयोगे उपयुक्तं घृतमिति व्यवहारः, तथेह नेति प्रतिपादयति—चतुर्भिरिति। आगमकालो ग्रहणकालः। स्वाध्यायकालोऽभ्यासकालः। प्रवचनकालोऽध्यापनकालः। व्यवहारो याज्ञे कर्मणि।

किञ्चिदिति। सामान्यविशेषौ यस्मिंस्तत्सामान्यविशेषवत्। कर्मण्यण्, आतोऽनुपसर्गे क इत्यादि।

अनुवाद—इस प्रकार इस शब्दोपदेश की व्यवस्था होने पर क्या शब्दों की

प्रतिपत्ति में (उनका) प्रतिपद पाठ करना चाहिए। गौ, अश्व, पुरुष, हस्ती, शकुनि, मृग, ब्राह्मण इत्यादि प्रकार के शब्दों का पृथक्-पृथक् पाठ होना चाहिए ?

(पाणिनि ने) ऐसा नहीं कहा। शब्दप्रतिपादन के लिए प्रतिपदपाठ कोई उपाय नहीं है। ऐसा सुना जाता है कि—"बृहस्पति ने इन्द्र के लिए सहस्र दिव्य वर्षों तक प्रतिपद शब्दों का पारायण किया, (फिर भी) समाप्त नहीं हो पाया।" बृहस्पति प्रवक्ता और इन्द्र अध्येता। सहस्र दिव्य वर्ष अध्ययन काल। फिर भी समाप्त नहीं हो पाया, फिर आजकल (तो बात ही) क्या। जो बहुत जीता है, सौ साल तक जी लेता है। चार प्रकार से विद्या का उपयोग होता है—

अध्ययन काल, स्वाध्याय काल, अध्यापन काल और (अधीत विद्या का) यज्ञ आदि व्यवहार में विनियोग। वहाँ अध्ययन काल में ही सारी आयु समाप्त हो जायेगी। इसलिए शब्दों के प्रतिपादन में (उनका) प्रतिपद पाठ कोई उपाय नहीं है।

तो फिर इन शब्दों का प्रतिपादन कैसे होना चाहिए ?

कुछ सामान्य और विशेष (नियमों) वाला लक्षण शास्त्र बनाना चाहिए जिससे अल्प प्रयत्न से महान् शब्दराशि का प्रतिपादन हो सके।

फिर वह क्या (हो) ?

उत्सर्ग और अपवाद। कोई उत्सर्ग नियम किया जायेगा, कोई अपवाद नियम।

किस प्रकार का उत्सर्ग और किस प्रकार का अपवाद करना चाहिए।

सामान्य रूप से उत्सर्ग (का कथन) करना चाहिए, जैसे "कर्मण्यण्"। उसका विशेष नियम अपवाद, जैसे—"आतोऽनुपसर्गे कः।"

उषा—सप्तद्वीपा वसुमती, तीन लोक, षडङ्ग तथा रहस्य सहित चार वेद, उनकी विभिन्न शाखायें, स्मृति साहित्य, इतिहास, पुराण, वैद्यक इस महान् शब्द प्रयोग के विषयभूत लोक में अनन्त शब्दों का प्रयोग होता है। उन समस्त साधु शब्दों का भी प्रतिपद व्याख्यान सम्भव नहीं है। अतः शब्दानुशासन करने के लिए गो, अश्व, पुरुष, हस्ती, शकुनि, मृग, ब्राह्मण इत्यादि रूप में प्रतिपद शब्दों का पाठ करके उनका व्याख्यान करना लघु, अत एव स्वीकार्य उपाय नहीं हो सकता।

इस सन्दर्भ में महाभाष्यकार ने एक ऐतिहासिक आख्यान प्रस्तुत किया है कि सुरगुरु बृहस्पति सुरेश्वर इन्द्र को एक सहस्र दिव्य वर्षों तक इसी पद्धति से शब्दोपदेश करते रहे, परन्तु शब्दपारायण समाप्त नहीं हो पाया। आज के युग में तो सौ वर्ष से अधिक आयु की सम्भावना ही नहीं की जा सकती। इस पर भी आगम, स्वाध्याय, प्रवचन और व्यवहार रूप में चार प्रकार से विद्या का उपयोग इस पद्धति की प्रासङ्गिकता पर और भी प्रश्न चिह्न लगा देता है।

"शब्दानां शब्दपारायणम्" के रूप में भासमान पुनरुक्ति का वारण करने के लिए यहाँ कैयट ने "शब्दपारायण" को योगरूढ अर्थ में ग्रन्थविशेष का वाचक

माना है। वस्तुतः यह स्वतन्त्र ग्रन्थ का वाचक शब्द है अथवा वैदिक शैली का प्रभावमात्र, यह सन्देहास्पद है।

विद्या की प्राप्ति का समय आगम-काल, अभ्यास स्वाध्याय-काल, अध्यापन प्रवचन-काल तथा उसका याज्ञिक क्रियाओं में उपयोग व्यवहार-काल है। नागेश के अनुसार 'आगमकालेन' इत्यादि शब्दों में विद्योपयोग के आधारभूत कालों में करणत्व की विवक्षा से तृतीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है, अर्थात् चार कालों में विद्या का उपयोग होता है। आगम और स्वाध्याय काल में इसका उपयोग आदर पूर्वक अन्नवस्त्रादि लाभरूप है, प्रवचन-काल में इसका उपयोग प्रतिष्ठा, अर्थप्राप्ति आदि तथा याज्ञिक व्यवहार के समय इसका उपयोग दक्षिणादि-लाभ में पर्यवसित होता है।

'नैषधीयचरितम्' महाकाव्य के प्रणेता श्रीहर्ष ने भी विद्या की इन चार दशाओं का उल्लेख किया है, परन्तु वहाँ इसका क्रम महाभाष्य के क्रम से किञ्चित् परिवर्तित है। वहाँ अध्ययन तथा स्वाध्याय के अनन्तर पहले व्यवहार तथा उसके अनन्तर प्रवचन-काल का उल्लेख है—

अधीतिबोधाचरणप्रचारणै-
र्दशाश्चतस्रः प्रणयन्नुपाधिभिः। नैषध० १.४.

परन्तु आज के युग में कहा जा सकता है कि सर्वप्रथम अध्ययन काल तथा उसके अनन्तर प्रवचन और व्यवहार काल को युगपत् लिया जा सकता है। स्वाध्याय-काल तो विद्याध्ययन के समय भी तथा उससे भी अधिक अध्यापनकाल में भी आवश्यक है।

प्रतिपद पाठ रूप उपाय के शब्दानुशासन में अनभ्युपायभूत सिद्ध हो जाने पर सामान्यवत् लक्षण को इसके उपाय के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जो अल्प यत्न से ही महान् शब्द राशि का प्रतिपादक होने के कारण लघु उपाय है।

उत्सर्ग और अपवाद रूप सूत्रों का निर्माण करके विस्तृत शब्दराशि को अनुशिष्ट किया जा सकता है। सामान्य नियम उत्सर्ग कहलाता है, विशेष नियम अपवाद। यथा 'कर्मण्यण्' सूत्र कर्म कारक उपपद होने पर धातु मात्र से अण् प्रत्यय का विधान करता है, किन्तु उसका विशेष अपवाद सूत्र "आतोऽनुपसर्गे कः" कर्मकारक के उपपद होने पर उपसर्ग रहित आकारान्त धातुओं से 'क' प्रत्यय का उपदेश करता है।

मूलम्—किं पुनराकृतिः पदार्थः आहो स्विद् द्रव्यम्?
उभयमित्याह।
कथं ज्ञायते?

उभयथा ह्याचार्येण सूत्राणि पठितानि। आकृतिं पदार्थं मत्वा—"जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्" इत्युच्यते। द्रव्यं पदार्थं मत्वा "सरूपाणाम्"—इत्येकशेष आरभ्यते।

प्रदीप—सकलशास्त्रव्यवस्थैकतरपक्षाश्रयणे न सिध्यतीति पक्षद्वयाश्रयणं प्रश्नपूर्वकं करोति—किं पुनरिति। आकृतिपक्षे केवल आश्रीयमाणे सकृद्गतौ विप्रतिषेध इत्यादि नोपपद्यते, केवलेपि व्यक्तिपक्षे पुनः प्रसङ्गविज्ञानादित्यादि न घटते। तस्माल्लक्ष्यसिद्धये क्वचित्प्रदेशे कश्चित्पक्षः परिगृह्यते। तत्र जातिवादिन आहुः—जातिरेव शब्देन प्रतिपाद्यते, व्यक्तीनामानन्त्यात्सम्बन्धग्रहणासम्भवात्। सा च जातिः सर्वव्यक्तिष्वेकाकारप्रत्ययदर्शनादस्तीत्यवसीयते। तत्र गवादयः शब्दा भिन्नद्रव्यसमवेतां जातिमभिदधति। तस्यां प्रतीतायां तदावेशात्तदवच्छिन्नं द्रव्यं प्रतीयते। शुक्लादयः शब्दा गुणसमवेतां जातिमाचक्षते। गुणे तु तत्सम्बन्धात्प्रत्ययः, द्रव्ये सम्बन्धिसम्बन्धात्। संज्ञाशब्दानामप्युत्पत्तिप्रभृत्या विनाशात्पिण्डस्य कौमारयौवनाद्यवस्थाभेदेऽपि स एवायमित्यभिन्नप्रत्ययनिमित्ता डित्थत्वादिका जातिर्वाच्या। क्रियास्वपि जातिर्विद्यते सैव धातुवाच्या। पठति पठतः पठन्तीत्यादेरभिन्नस्य प्रत्ययस्य सद्भावात्तन्निमित्तजात्यभ्युपगमः। व्यक्तिवादिनस्त्वाहुः—शब्दस्य व्यक्तिरेव वाच्या, जातेस्तूपलक्षणभावेनाश्रयणादानन्त्यादिदोषानवकाशः।

अनुवाद—क्या आकृति पद का अर्थ है, अथवा द्रव्य।

"दोनों ही," ऐसा (सूत्रकार) कहता है।

कैसे जाना जाता है?

दोनों ही प्रकार के आचार्य ने सूत्र पढ़े हैं। आकृति को पदार्थ मानकर "जात्याख्यायामेकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्याम्" ऐसा कहा जाता है। द्रव्य को पदार्थ मानकर "सरूपाणाम्०"—इत्यादि एकशेष शास्त्र का आरम्भ किया गया है।

उषा—पतञ्जलि से पूर्व वाजप्यायन और व्याडि पद के अर्थ के सम्बन्ध में क्रमशः जाति और व्यक्ति अथवा आकृति और द्रव्य का विस्तृत विवेचन कर चुके थे। महाभाष्यकार ने इन दोनों वादों में समन्वय स्थापित किया। "चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः" कहकर एक स्थल पर जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा के रूप में चार प्रकार की शब्द प्रवृत्ति की बात स्वीकार की है।

शब्दानुशासन के प्रणेता आचार्य पाणिनि भी जाति और व्यक्ति दोनों में ही पदों का वाचकत्व स्वीकार करते हैं। इसलिए दोनों ही प्रकार के सूत्र अष्टाध्यायी में प्राप्य हैं। व्यक्तिपक्ष के ही सर्वत्र पदार्थत्वेन इष्ट होने पर "सम्पन्ना व्रीहयः" इत्यादि स्थलों में, जहाँ अनेकत्व सिद्ध ही है, "जात्याख्यायामेकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्याम्" सूत्र के निर्माण की आवश्यकता ही नहीं रहती। इसी प्रकार से जाति ही यदि पदार्थत्वेन इष्ट हो तो उसके सर्वत्र एकवचनान्त होने के कारण एकत्व

का विधान करने के लिए "सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ" आदि सूत्र अनर्थक हो जायेंगे।

अतः व्याकरण मत में व्यक्ति और जाति दोनों में ही पदार्थत्व वर्त्तमान है। बल्कि सच तो यह है कि जाति और व्यक्ति अभिन्न हैं, उन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता। यह बात अलग है कि किसी स्थल पर वाच्यत्व जाति में होता है, अन्यत्र व्यक्ति में। मुख्य वाच्य यदि जाति हो तो व्यक्ति गौण होता है और व्यक्ति यदि मुख्य रूप से वाच्य हो तो जाति में गौणता होती है। यही बात भर्तृहरि ने भी कही है—

"पदार्थानामपोद्धारे जातिर्वा द्रव्यमेव वा"।

मूलम्—किं पुनर्नित्यः शब्दः, आहो स्वित्कार्यः ?

संग्रह एतत्प्राधान्येन परीक्षितम्—नित्यो वा स्यात् कार्यो वेति। तत्रोक्ता दोषाः, प्रयोजनान्यप्युक्तानि। तत्र त्वेष निर्णयः—यद्येव नित्यः, अथापि कार्यः, उभयथापि लक्षणं प्रवर्त्यमिति।

प्रदीपः—किं पुनरिति। विप्रतिपत्त्या संशयः। केचिद्ध्वनिव्यङ्ग्यं वर्णात्मकं नित्यं शब्दमाहुः। अन्ये वर्णव्यतिरिक्तं पदस्फोटमिच्छन्ति। वाक्यस्फोटमपरे संगिरन्ते। अन्ये तु ध्वनिरेव शब्दः स च कार्यस्तद्व्यतिरेकेणान्यस्यानुपलम्भादित्याचक्षते। संग्रह इति। ग्रन्थविशेषे।

अनुवाद—क्या शब्द नित्य है, अथवा कार्य (अनित्य) ?

संग्रह (नामक ग्रन्थ) में मुख्य रूप से इसकी परीक्षा की गई है कि (शब्द) नित्य है अथवा कार्य। वहाँ (उभय पक्षों में प्रसक्त) दोष कहे गये हैं, (शास्त्रारम्भ के) प्रयोजन भी बताये गये हैं। वहाँ यह निर्णय किया गया है कि यद्यपि (शब्द) नित्य है, अथवा कार्य, दोनों ही परिस्थितियों में लक्षणशास्त्र (व्याकरण) का उपदेश होना चाहिए।

उषा—विभिन्न दर्शनों में तत्तद्दर्शनतन्त्र की सीमाओं के अनुरूप शब्द के स्वरूप पर विचार किया गया है। उनकी मान्यतायें न केवल भिन्न-भिन्न प्रत्युत परस्पर विरोधी भी हैं। मीमांसा ध्वनि रूप वर्णात्मक शब्द को नित्य स्वीकार करता है, न्यायदर्शन को इसकी नित्यता स्वीकार्य नहीं क्योंकि उनके मत में श्रूयमाण ध्वनिरूप ही शब्द है। कुछ वैयाकरण वर्णों के अतिरिक्त पदस्फोट की सत्ता को स्वीकार करते हैं परन्तु पदों में वर्णों की स्थिति जिस प्रकार से कल्पित है, उसी प्रकार से वाक्य में पदों की स्थिति भी काल्पनिक है, अतः अन्य वैयाकरणों की दृष्टि में वाक्यस्फोट ही प्रधान रूप से शब्दत्वेन स्थित है।

एवं च, शब्दानुशासन करने से पूर्व इन परस्पर विसंवादी मान्यताओं के मध्य शब्दनित्यत्व और कार्यत्व के प्रश्न का समाधान कर लेने की अनिवार्यता

का अनुभव करते हुए यह प्रश्न उठाया गया है। परन्तु भाष्यकार ने यहाँ इसकी अप्रासङ्गिकता को बताते हुए कहा है कि इस प्रकार का विस्तृत विवेचन पहले ही आचार्य व्याडि के संग्रह (नामक ग्रन्थ) में हो चुका है। यहाँ उन सब उक्तियों का दोहराना पिष्टपेषण ही होगा। इन दोनों ही पक्षों के सूक्ष्म पर्यालोचन के अनन्तर वहाँ यह निर्णय दिया गया है कि शब्द को चाहे नित्य माना जाये अथवा कार्य, दोनों ही परिस्थितियों में उसके साधुत्व का अनुशासन आरम्भणीय है।

व्याडि पाणिनि के मातुल अथवा बलदेव उपाध्याय के शब्दों में मातुलपुत्र थे। उनके द्वारा विरचित संग्रहग्रन्थ के विषय में सर्वप्रथम सूचना महाभाष्य से प्राप्त होती है, जहाँ शब्दनित्यत्व और कार्यत्व जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों को भी व्याडिप्रमाण कहकर छोड़ दिया गया है, जो व्याडि की प्रामाणिकता सिद्ध करता है। भर्तृहरि ने महाभाष्य के उक्त प्रसङ्ग की टीका करते हुए इस ग्रन्थ के विषय में कहा है कि इसमें १४ सहस्र दार्शनिक वस्तुओं की परीक्षा की गई है। पुण्यराज ने वाक्यपदीय की टीका में इसे लक्षग्रन्थपरिमाण वाला कहा है। इसकी पुष्टि प्रदीपोद्योत से भी होती है। युधिष्ठिर मीमांसक ने अनेक स्थानों पर उद्धृत संग्रह ग्रन्थ के उद्धरणों का संकलन करके उसे प्रकाशित किया है।

मूलम्—कथं पुनरिदं भगवतः पाणिनेराचार्यस्य लक्षणं प्रवृत्तम्?
"सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे" (वा०).
सिद्धे शब्देऽर्थे सम्बन्धे चेति।
अथ सिद्धशब्दस्य कः पदार्थः?
नित्यपर्यायवाची सिद्धशब्दः।
कथं ज्ञायते।

यत्कूटस्थेष्वविचालिषु भावेषु वर्त्तते। तद्यथा सिद्धा द्यौः सिद्धा पृथिवी, सिद्धमाकाशमिति।

प्रदीपः—कथं पुनरिति। किमाचार्य एव स्रष्टा शब्दार्थसम्बन्धानाम्, अथ स्मर्तेति प्रश्नः। सिद्ध इति। तत्र नित्यः शब्दो जातिस्फोटलक्षणो व्यक्तिस्फोटलक्षणो वा। कार्यशाब्दिकानामपि मते प्रवाहनित्यता। अर्थस्यापि जातिलक्षणस्य नित्यत्वम्। द्रव्यपक्षेऽपि सर्वशब्दानामसत्योपाध्यवच्छिन्नं ब्रह्मतत्त्वं वाच्यमिति नित्यता प्रवाहनित्यतया वा। सम्बन्धस्यापि व्यवहारपरम्परयाऽनादित्वान्नित्यता। सिद्ध शब्दस्य नित्यानित्ययोर्दर्शनात्पृच्छति—अथेति। नित्येति। नित्यलक्षणस्यार्थस्य पर्यायेण वाचकस्तमेवार्थं कदाचिन्नित्यशब्द आह कदाचित्सिद्धशब्द इत्यर्थः। कूटस्थेष्विति। देशान्तरप्राप्तिरहितेषु।

अनुवाद—फिर कैसे (किस अभिप्राय से भगवान् आचार्य पाणिनि का लक्षण (शास्त्र) प्रवृत्त हुआ है?

"सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे" अर्थात् शब्द, अर्थ और उसके सम्बन्ध के नित्य होने पर।

अब सिद्ध शब्द का क्या अर्थ है ?

सिद्ध शब्द नित्य (शब्द) का पर्यायवाची है।

(यह) कैसे जाना जाता है ?

क्योंकि यह कूटस्थ (स्वरूप में स्थित) और अविचालित (नित्य सुस्थित) भावों में आता है। जैसे कि—द्युलोक सिद्ध है, पृथिवी सिद्ध है, आकाश सिद्ध है (इत्यादि)।

उषा—शब्द और अर्थ का सम्बन्ध यदि नित्य और लोकसिद्ध है तो शास्त्र का आरम्भ व्यर्थ ही है और यदि यह सम्बन्ध सिद्ध नहीं है तो शास्त्र का अनुशासन हो ही नहीं सकता है। अत एव यह प्रश्न उठाया गया है कि पाणिनि का शब्दानुशासन किस अभिप्राय को लेकर प्रवृत्त हुआ है, अर्थात् पाणिनि के शासनतन्त्र की सीमाओं में शब्द, अर्थ और उनका सम्बन्ध नित्य है अथवा अनित्य।

इस प्रश्न के उत्तर में भाष्यकार ने एक वार्त्तिक उद्धृत किया है—"सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे" अर्थात् शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध को नित्य मानते हुए। यहाँ सिद्ध शब्द नित्य शब्द का पर्यायवाची है, क्योंकि यह प्रायः अविनाशी तथा नित्य अवस्थित भावों को अभिव्यक्त करने के लिए प्रयुक्त होता है। जाति स्फोट अथवा व्यक्ति स्फोट रूप शब्द नित्य है। जो शब्द को अनित्य मानते हैं उनके मत में भी शब्द में प्रवाहनित्यता तो है ही। जाति रूप में अर्थ नित्य है, द्रव्यपक्ष में असत्योपाध्यवच्छिन्न ब्रह्मतत्त्व ही समस्त शब्दों के द्वारा वाच्य है, अतः नित्य है। व्यवहार परम्परा के अनादि होने के कारण शब्द और अर्थ का सम्बन्ध भी नित्य है।

मूलम्—ननु च भोः कार्येष्वपि वर्त्तते, तद्यथा सिद्ध ओदनः, सिद्धः सूपः, सिद्धा यवागूरिति। यावता कार्येष्वपि वर्तते, तत्र कुत एतन्नित्यपर्यायवाचिनो ग्रहणं न पुनः कार्ये यः सिद्ध शब्द इति।

संग्रहे तावत्कार्यप्रतिद्वन्द्विभावान्मन्यामहे नित्यपर्यायवाचिनो ग्रहणमिति। इहापि तदेव।

अथवा सन्त्येकपदान्यप्यवधारणानि। तद्यथा अब्भक्षो, वायुभक्ष इति—अप एव भक्षयति, वायुमेव भक्षयतीति गम्यते। एवमिहापि। सिद्ध एव न साध्य इति।

अथवा पूर्वपदलोपोऽत्र द्रष्टव्यः। अत्यन्तसिद्धः सिद्ध इति। तद्यथा देवदत्तो दत्तः, सत्यभामा भामेति।

अथवा व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणमिति नित्यपर्यायवाचिनो ग्रहणमिति व्याख्यास्यामः ।

प्रदीपः—ननु चेति । सिद्धशब्दात्क्रियानिष्पन्नोऽप्यर्थोऽवगम्यत इत्यर्थः ।

संग्रहे तावदिति । तत्र हि "किं कार्यः शब्दोऽथ सिद्ध" इति पक्षद्वयविचारः कृतः । तत्र कार्यप्रतिपक्षार्थाभिधायी सामर्थ्यात्सिद्धशब्द इति स्थितम् । तत्समानतन्त्रत्वादिहापि तथैव युक्तमित्यर्थः ।

अथवेति । एवशब्दप्रयोगे द्विपदमवधारणं, द्योतकत्वेनैव शब्दस्यापेक्षणात् । यदा तु द्योतकमन्तरेण सामर्थ्यादवधारणं गम्यते तदा तदेकपदमित्युच्यते । तत्र सर्वं एवापो भक्षयन्तीत्यब्भक्षश्रुतिः सामर्थ्यान्नियममवगमयति—अप एव भक्षयन्तीति । इहापि नित्यानित्यव्यतिरेकेण राश्यन्तराभावात्सिद्धशब्दोपादानान्नियमोऽवगम्यते सिद्ध एवेति । कार्याणां तु पदार्थानां प्रागभावप्रध्वंसाभावयोरपि सत्त्वात्सिद्धता नास्तीति न ते सिद्धा एव ।

अथवेति । कथं पुनर्देवदत्तशब्दे संज्ञात्वेन विनियुक्ते एकदेशः प्रयुज्यते । न ह्यसौ संज्ञात्वेन विनियुक्तः । न चैकदेशात्स्मर्यमाणस्य समुदायस्य वाचकत्वमुपपद्यते । प्रतीयमानस्य प्रत्यायकत्वासम्भवादुच्चार्यमाणस्यैव वाचकत्वात् । एवं तर्ह्यनुनिष्पादिन्योऽवयवसरूपाः संज्ञा विनियोगकाले विनियुक्ता एव । लोपस्तु वर्णानां साधुत्वं मा भूदित्यन्वाख्यायते । इहापि नित्यानित्ययोर्निष्पन्नत्वाविशेषात्सिद्धश्रुतिरुपात्ता प्रकर्षं गमयति—अत्यन्तसिद्ध इति ।

न्यायाद्वा नित्यत्वं शब्दादीनां स्थितमित्याह—अथवेति । न हि सन्देहमात्रादलक्षणता भवति, पुनः प्रमाणान्तरेण निश्चयोत्पादात् ।

अनुवाद—अरे ! इस प्रकार से तो (सिद्ध शब्द) कार्य (पदार्थों) में भी (प्रयुक्त होता) है । जैसे कि—ओदन सिद्ध हैं (बन गये हैं), दाल सिद्ध है, यवागु (खिचड़ी) सिद्ध है इत्यादि । जब यह कार्य (पदार्थों) में भी (प्रयुक्त होता है), फिर कैसे वहाँ नित्य पर्यायवाची (सिद्ध शब्द का) ही ग्रहण है, कार्य के पर्याय सिद्ध शब्द का नहीं ।

संग्रह (नामक ग्रन्थ) में कार्य (पदार्थों) के विरोधी भाव में प्रयुक्त होने के कारण (हम) समझते हैं (कि वहाँ भी) नित्य के पर्याय रूप में (सिद्ध शब्द का) ग्रहण है । (इसलिए यहाँ भी वैसा ही हो ।

अथवा एक ही पद से अवधारण (नियम) देखे जाते हैं, जैसे कि अब्भक्षः, वायुभक्षः आदि से पानी ही पीता है, वायु ही खाता है, ऐसा समझा जाता है । इसलिए यहाँ भी सिद्ध ही है, साध्य नहीं, (ऐसा समझा जाना चाहिए)

अथवा यहाँ पूर्व पद का लोप समझना चाहिए, अत्यन्तसिद्ध (को) सिद्ध (कहते हैं) । जैसे कि देवदत्त को दत्त (और) सत्यभामा को भामा (इत्यादि)

अथवा व्याख्यान से विशेष बोध होता है, सन्देह भर से (लक्षण) अलक्षण नहीं हो जाता, इसलिए (यहाँ) नित्य के पर्यायवाची सिद्ध शब्द का ग्रहण है (ऐसा) व्याख्यान करेंगे।

उषा—सिद्धान्ती ने "सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे" वार्त्तिक में सिद्ध शब्द को नित्य का पर्यायवाची स्वीकार करके अपना विवेचन प्रस्तुत किया था। पूर्वपक्षी इस पर आशंका करता हुआ कहता है कि सिद्ध शब्द जिस प्रकार से नित्य भावों के व्याख्यान में प्रयुक्त होता है, उसी प्रकार से क्रियानिष्पन्न पदार्थों को कहने में भी इस शब्द का प्रयोग लोक में देखा जाता है, यथा ओदन सिद्ध है, यवागू सिद्ध है, इत्यादि। इसलिए बिना आधार के इसे केवल मात्र अविनाशी तथा नित्य अवस्थित पदार्थों का वाचक नहीं माना जा सकता। सिद्धान्ती ने पूर्वपक्षी की इस आशङ्का का चार प्रकार से समाधान किया है—

(१) भाष्यकार का प्रथम तर्क संग्रहग्रन्थ को प्रमाण रूप मानकर प्रस्तुत किया गया है। संग्रह ग्रन्थ में सिद्ध शब्द को कार्य के प्रतिपक्षी अर्थ का अभिधान करने में प्रयुक्त किया गया है। समान शास्त्रीय विषय होने के कारण सम्भवतः यह प्रस्तुत वार्त्तिक में उसी अर्थ का अभिधान करता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि जो सिद्धान्त संग्रह ग्रन्थ में व्याडि द्वारा स्वीकृत किये गये हों, वही वार्त्तिककार कात्यायन को भी अभिमत हों। ऐसी स्थिति में तो व्याडि सम्मत द्रव्य पदार्थ-वाद का सिद्धान्त भी वार्त्तिककार को स्वीकृत होना चाहिए था। अतः कुछ अन्य तर्कों का भी उपस्थापन किया गया है।

(२) लोक में "अब्भक्षः", "वायुभक्षः" आदि प्रयोग जल का ही भक्षण करता है, अथवा, वायु का ही भक्षण करता है, इन अर्थों में पर्यवसित होते हैं। यहाँ अर्थात्मक अवधारणा में 'एव' शब्द का प्रयोग निश्चयात्मकता को बताता है। जब शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध को सिद्ध कहा जाता है तो यहाँ वह सिद्ध ही है, इस रूप में ग्रहण किया जायेगा। अन्य कार्य पदार्थ प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव की स्थिति में सिद्ध नहीं होते।

(३)संज्ञा से रूप में प्रसिद्ध 'देवदत्त' इत्यादि शब्द अपने संक्षिप्त रूप 'दत्त' आदि से ही सम्पूर्ण अर्थ की प्रतीति करवा देते हैं क्योंकि सम्पूर्ण के लिए प्रयुज्यमान संज्ञा अपने अवयवों में भी सम्पृक्त हो जाती है। अपि च, एक सम्बन्धि ज्ञान अपने से सम्बद्ध अन्य वस्तु का भी स्मारक होता ही है। इसी प्रकार से 'दत्त' शब्द अपने से सम्बन्धित 'देव' शब्द का भी स्मरण करवाता है और 'देवदत्त' उस सम्पूर्ण अर्थ की प्रतीति होती है। और यह व्यवहार केवल संज्ञाओं में ही नहीं, अन्यत्रापि दृष्टिगत होता है। यहाँ भी 'सिद्ध' शब्द वस्तुतः सम्पूर्ण शब्द 'अत्यन्त सिद्ध' का लघु रूप है। ऐसी स्थिति में सिद्ध शब्द नित्य वस्तु का ही पर्याय हो सकता है, कार्य पदार्थ का नहीं।

(४) अपि च, इस प्रकार के सन्दिग्ध पदों का व्याख्यान करके उनके विशिष्ट और प्रासङ्गिक अर्थ को ग्रहण करना चाहिए। सन्देहमात्र के ही उत्पन्न होने पर कोई लक्षण अलक्षण नहीं बन जाता। प्रमाणान्तर से उसके विशिष्ट अर्थ का विनिश्चय करना चाहिए। एवमेव 'सिद्ध' शब्द यहाँ नित्य का पर्यायवाची है, इसकी प्रतीति व्याख्यान से की जा सकती है, सिद्ध शब्द के प्रयोग को ही अनुचित कह देना उचित नहीं।

मूलम्—किं पुनरनेन वर्ण्येन। किं न महता कण्ठेन नित्यशब्द एवोपात्तः यस्मिन्नुपादीयमानेऽसंदेहः स्यात्?

माङ्गलिक आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं सिद्धशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते। मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाणि च भवन्ति, आयुष्मत्पुरुषाणि चाध्येतारश्च सिद्धार्था यथा स्युरिति।

अयं खलु नित्यशब्दो नावश्यं कूटस्थेष्वविचालिषु भावेषु वर्त्तते।

किं तर्हि?

आभीक्ष्ण्येऽपि वर्त्तते। तद्यथा नित्यप्रहसितो, नित्यप्रजल्पित इति। यावताऽभीक्ष्ण्येऽपि वर्तते तत्राप्यनेनैवार्थः स्यात्—"व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्" इति। पश्यति त्वाचार्यो मङ्गलार्थश्चैव सिद्धशब्द आदितः प्रयुक्तो भविष्यति, शक्ष्यामि चैनं नित्यपर्यायवाचिनं वर्णयितुमिति। अतः सिद्धशब्द एवोपात्तो न नित्यशब्द इति।

प्रदीपः—वर्ण्येनेति। प्रयत्नव्याख्यातव्येनेत्यर्थः। माङ्गलिक इति। अगर्हिताभीष्टार्थसिद्धिर्मङ्गलं तत्प्रयोजन आचार्यो माङ्गलिकः। प्रथन्त इति। अध्ययनस्याविच्छेदात्। वीरपुरुषाणीति। श्रोतॄणां परम्पराजयात्। आयुष्मत्पुरुषाणीति। शास्त्रानुष्ठाने धर्मोपचयादायुर्वर्धनात्। सिद्धार्था इति। अध्ययननिर्वृत्तिरेव तेषां सिद्धिः। नावश्यमिति। ततश्चाभीक्ष्ण्येन ये शब्दाः प्रयुज्यन्ते आगोपालाङ्गनं तेषामेवान्वाख्यानं स्याद् न विरलप्रयोगाणाम्। विनापि च क्रियापदप्रयोगेणाभीक्ष्ण्यवृत्तिर्नित्यशब्दः प्रयुज्यते। यथा आश्चर्यमनित्ये नित्यवीप्सयोरिति।

अनुवाद—फिर इस प्रयत्नव्याख्यातव्य (सिद्ध शब्द से) क्या प्रयोजन? क्यों नहीं खुले गले से नित्य शब्द का ही पाठ किया गया जिसके उपादान से सन्देह ही नहीं होता?

माङ्गलिक आचार्य महान् शास्त्रसमुदाय के मङ्गल के लिए सिद्ध शब्द का आदि में प्रयोग करता है। (क्योंकि) आदि मङ्गल (लक्षणों से युक्त) शास्त्र प्रसिद्ध होते हैं, (इनके ज्ञाता) वीर पुरुष होते हैं और दीर्घायु होते है, अथ च (उनके) पढ़ने वाले सिद्धार्थ होते हैं।

यह नित्य शब्द भी आवश्यक रूप से कूटस्थ और अविचालि भावों में प्रयुक्त नहीं होता।

तो (फिर) कहाँ (होता है) ?

'आवृत्ति' अर्थ में भी आता है। जैसे कि नित्य हँसता (बहुत अधिक हँसता) है, नित्य बोलता है (बहुत बोलता है) इत्यादि। जब (नित्य शब्द) आभीक्ष्ण्य में प्रयुक्त होता, तब भी "व्याख्यान से विशेष प्रतिपत्ति होती है, सन्देह से (लक्षण) अलक्षण नहीं हो जाता," इस नियम से ही अर्थ (सिद्ध हो सकता) है। आचार्य ने देखा (विचार किया) कि मङ्गलार्थक शब्द आदि में प्रयुक्त हो जायेगा और (मैं) इसे नित्य का पर्यायवाची भी वर्णित कर सकूँगा। इसीलिए सिद्ध शब्द का प्रयोग किया है, नित्य शब्द का नहीं।

उषा :—"सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे" इस वार्त्तिक में 'सिद्ध' शब्द को यद्यपि यथाकथमपि नित्य का पर्यायवाची सिद्ध किया जा सकता है तथापि यह प्रयत्न-व्याख्यातव्य अवश्य है तथा सन्देह को उत्पन्न करता है। इसके स्थान पर नित्य शब्द इस सन्देह की निवृत्ति कर सकता है, अतः सिद्ध के स्थान पर स्फुट रूप से नित्य शब्द का ही प्रयोग किया जाना चाहिए था।

सिद्धान्तों के अनुसार 'सिद्ध' शब्द का प्रयोग यहाँ मङ्गलाचरण के लिए किया गया है, क्योंकि भारतीय मान्यता के अनुसार आदि में मङ्गलाचरण से युक्त शास्त्र प्रसिद्धि को प्राप्त होते हैं। श्रोता अथवा पाठक अपराजय को प्राप्त करते हैं, शास्त्रानुष्ठान से धर्मलाभ करके दीर्घायु होते हैं तथा अध्ययन परिसमाप्ति रूप अर्थ (प्रयोजन) को सिद्ध करते हैं।

मङ्गलाचरण के अनुष्ठान से विघ्नों का नाश होता है, अत एव ग्रन्थ की निर्विघ्न परिसमाप्ति भी हो पाती है। यद्यपि कोई श्रुति मङ्गलाचरण का विधान नहीं करती तथापि शिष्टाचार परम्परा से यह मान्यता अविच्छिन्न चली आ रही है। अपि च, जिन ग्रन्थों के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण किया गया है, वे निर्विघ्न परिसमाप्त हो गये हैं, उन्हें देखकर इस विषय में अनुमान किया जा सकता है। इसके अपवाद के रूप में, जहाँ मङ्गलाचरण होने पर भी ग्रन्थ निर्विघ्न समाप्त नहीं हुआ, वहाँ इसका कारण यह हो सकता है कि ग्रन्थ में विघ्न मङ्गलाचरण के अनुपात से अधिक थे और इसके विपरीत जहाँ मङ्गलाचरण के बिना ही ग्रन्थ निर्विघ्न समाप्त हो गया है, वहाँ सम्भवतः ग्रन्थकार ने बाहर ही मङ्गलाचरण कर लिया था।

अपि च, नित्य शब्द भी केवल मात्र अविनाशी पदार्थों को नहीं कहता, प्रत्युत सिद्ध शब्द जिस प्रकार से नित्य के अतिरिक्त अन्य (अनित्य) अर्थ को भी अभिव्यक्त करता था, नित्य शब्द भी इसके अतिरिक्त आभीक्ष्ण्य अर्थ में प्रयुक्त हुआ देखा जाता है। यद्यपि इस स्थिति में भी व्याख्यान से विशिष्ट अर्थ का प्रतिपादन किया जा सकता था तथापि सिद्ध शब्द का प्रयोग ही यहाँ अधिक उपयुक्त है। क्योंकि इस शब्द का प्रयोग एक ओर मङ्गलाचरण तथा दूसरी ओर नित्य की पर्यायवाचकता दोनों का युगपत् आख्यान कर पाने में समर्थ है।

मूलम्—अथ कं पुनः पदार्थं मत्वैष विग्रहः क्रियते—सिद्धे शब्देऽर्थे सम्बन्धे चेति ?

आकृतिमित्याह।

कुत एतत् ?

आकृतिर्हि नित्या द्रव्यमनित्यम् ।

अथ द्रव्ये पदार्थे कथं विग्रहः कर्त्तव्यः ?

सिद्धे शब्देऽर्थसम्बन्धे चेति । नित्यो ह्यर्थवतामर्थैरभिसम्बन्धः ।

प्रदीपः—अर्थ सम्बन्धे चेति । द्रव्यपक्षे द्रव्यस्यानित्यत्वादर्थग्रहणं सम्बन्धविशेषणार्थमुपात्तम् । अनित्येऽर्थे कथं सम्बन्धस्य नित्यतेति चेद्, योग्यतालक्षणत्वात्सम्बन्धस्य । तस्याश्च शब्दाश्रयत्वाच्छब्दस्य नित्यत्वाददोषः ।

अनुवाद—फिर किसे पदार्थ मानकर (द्रव्य अथवा आकृति को) यह विग्रह किया जाता है—शब्द, अर्थ और सम्बन्ध के सिद्ध (नित्य) होने पर ?

आकृति को, ऐसा (वैयाकरण) कहता है ।

यह कैसे (कहा जाता है) ?

क्योंकि आकृति नित्य है, द्रव्य अनित्य ।

फिर द्रव्य को पदार्थ मानकर कैसे विग्रह करना चाहिए ?

शब्द और अर्थ सम्बन्ध के सिद्ध होने पर । शब्दों का अर्थों के साथ सम्बन्ध नित्य है ।

उषा—वैयाकरण आकृति (जाति) और द्रव्य दोनों को ही पद के अर्थ के रूप में स्वीकार करते हैं । अतः "सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे" इस वार्त्तिक में 'सिद्ध' शब्द का अर्थ 'नित्य' स्वीकार कर लेने पर यह प्रश्न उठता है कि द्रव्य रूप अर्थ को नित्य माना जाता है या जाति रूप अर्थ को, अर्थात् अर्थ नित्यता की स्थिति में गो द्रव्य नित्य हैं, अथवा गोत्व जाति ।

जाति को पदार्थ मानने की स्थिति में कोई आपत्ति नहीं हो सकती । जाति नित्य है, द्रव्य अनित्य । एक गो के नष्ट हो जाने पर भी गोत्व धर्म नष्ट नहीं होता ।

अत एव द्रव्य को पदार्थ मानने की स्थिति में विवेच्य वार्त्तिक का विग्रह "सिद्धे शब्दे, अर्थसम्बन्धे च" इस प्रकार करना होगा । अर्थात् शब्द और उसका अर्थ के साथ सम्बन्ध नित्य है । इसे ही दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि नित्य शब्द का अनित्य अर्थ के साथ नित्य सम्बन्ध है ।

यदि अर्थ अनित्य है तो शब्द के साथ उसका सम्बन्ध नित्य कैसे हो सकता है, इस प्रश्न का समाधान करते हुए नागेश ने कहा है कि नष्ट और भावी अर्थों का

भी शब्द के द्वारा बोध लोकव्यवहार में देखा जाता है, अतः बौद्ध शब्द का बौद्ध अर्थ के साथ सम्बन्ध नित्य है।

मूलम्—अथवा द्रव्य एव पदार्थ एष विग्रहो न्याय्यः—सिद्धे शब्देऽर्थे सम्बन्धे चेति। द्रव्यं हि नित्यमाकृतिरनित्या।
कथं ज्ञायते?

एवं हि दृश्यते लोके मृत्कयाचिदाकृत्या युक्ता पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिमुपमृद्य घटिकाः क्रियन्ते, घटिकाकृतिमुपमृद्य कुण्डिकाः क्रियन्ते। तथा सुवर्णं कयाचिदाकृत्या युक्तं पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिमुपमृद्य रुचकाः क्रियन्ते, रुचकाकृतिमुपमृद्य कटकाः क्रियन्ते। कटकाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिकाः क्रियन्ते। पुनरावृत्तः सुवर्णपिण्डः पुनरपरयाकृत्या युक्तः खदिराङ्गारसवर्णे कुण्डले भवतः। आकृतिरन्या चान्या च भवति, द्रव्यं पुनस्तदेव। आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते।

प्रदीपः—द्रव्यं हि नित्यमिति। असत्योपाध्यवच्छिन्नं ब्रह्मतत्त्वं द्रव्यशब्दवाच्यमित्यर्थः। आकृतिरिति। संस्थानम्। ब्रह्मदर्शने च गोत्वादिजातेरप्यसत्यत्वादनित्यत्वम्, "आत्मैवेदं सर्वम्" इति श्रुतिवचनात्।

अनुवाद—अथवा द्रव्य को ही पदार्थ मानकर यह विग्रह (करना) न्याय्य है—शब्द, अर्थ और सम्बन्ध के नित्य होने पर। क्योंकि द्रव्य नित्य है, आकृति अनित्य।

(यह) कैसे जाना जाता है?

क्योंकि ऐसा लोक में देखा जाता है कि मिट्टी किसी आकृति से युक्त पिण्ड होती है, पिण्ड की आकृति को मिटाकर घड़ियाँ बनाई जाती हैं, घड़ियों की आकृति को मिटाकर कुण्डिकायें बनाई जाती हैं। उसी प्रकार सुवर्ण किसी आकृति से युक्त पिण्ड होता है, पिण्ड की आकृति को मिटाकर रुचक (आभूषण विशेष) बनाये जाते हैं, रुचक की आकृति को मिटाकर कटक (कड़े) बनाये जाते हैं। कड़ों की आकृति को मिटाकर स्वस्तिक बनाये जाते हैं। फिर लौटकर सुवर्णपिण्ड बना हुआ सोना फिर दूसरी आकृति से युक्त हुआ खदिराङ्गार के समान दो कुण्डल हो जाते हैं। आकृति और-और होती जाती है। (बदलती रहती है), द्रव्य फिर भी वही है। आकृति के नाश होने पर द्रव्य ही शेष रह जाता है।

उषा—शब्द के द्वारा यदि द्रव्यरूप अर्थ को भी वाच्य माना जाये तो भी शब्द, अर्थ और उनका सम्बन्ध तीनों की नित्यता सिद्ध की जा सकती है, अर्थात् द्रव्य रूप में भी अर्थ नित्य हो सकता है। द्रव्य की नित्यता और आकृति की अनित्यता को सिद्ध करने के लिए पतञ्जलि ने एक दृष्टान्त प्रस्तुत किया है कि मिट्टी किसी एक आकृति से युक्त होकर पिण्ड बन जाती है, उसे ही तोड़कर फिर घटिका, कुण्डिका आदि विभिन्न आकृति रूपों में परिणत किया जा सकता है। सुवर्णपिण्ड को भी पुनः पुनः तोड़कर रुचक, कटक, कुण्डल आदि विभिन्न आकृति

रूप प्रदान किये जा सकते हैं। इस प्रक्रिया में आकृति रूप निरन्तर परिवर्तनशील और अनित्य रहते हैं। इन विभिन्न असत्य उपाधियों से अवच्छिन्न ब्रह्म रूप द्रव्य-तत्त्व नित्य रहता है। उस तत्त्व के दर्शन को जानने पर गोत्व आदि विभिन्न जातिरूप असत्य और अनित्य होकर रह जाते हैं। "आत्मैवेदं सर्वम्" इत्यादि श्रुति-वाक्य इसमें प्रमाण हैं।

मूलम्—आकृतावपि पदार्थ एष विग्रहो न्याय्यः—सिद्धे शब्देऽर्थे सम्बन्धे चेति।

ननु चोक्तम्—आकृतिरनित्येति।

नैतदस्ति। नित्याऽऽकृतिः।

कथम् ?

न क्वचिदुपरतेति कृत्वा सर्वत्रोपरता भवति। द्रव्यान्तरस्था तूपलभ्यते।

अथवा नेदमेव नित्यलक्षणम्—ध्रुवं कूटस्थमविचाल्यनपायोपजनविकार्य-नुपत्त्यवृद्ध्यव्ययोगि यत्तन्नित्यम् इति। तदपि नित्यं यस्मिंस्तत्त्वं न विहन्यते।

किं पुनस्तत्त्वम् ?

तद्भावस्तत्त्वम्। आकृतावपि तत्त्वं न विहन्यते।

अथवा किं न एतेन—इदं नित्यमिदमनित्यमिति यन्नित्यं तं पदार्थं मत्वैष विग्रहः क्रियते—सिद्धे शब्देऽर्थे सम्बन्धे चेति।

प्रदीपः—न क्वचिदुपरतेति। अनभिव्यक्तेत्यर्थः। अद्वैतेन लोके व्यवहारा-भावाद् व्यवहारे चाकृतेरेकाकारपरामर्शहेतुत्वान्नित्यत्वम्। **अथवेति**। असत्यत्वेपि तत्त्वतो लोकव्यवहाराश्रयणेन जातेर्नित्यत्वं साध्यते। त्रिविधा चानित्यता, **संसर्गा-नित्यता** यथा—स्फटिकस्य लाक्षाद्युपधाने स्वरूपतिरोधानेन पररूपभासः। **परिणा-मानित्यता** यथा बदरीफलस्य श्यामतातिरोभावे लौहित्याविर्भावः। **प्रध्वंसानित्यता** सर्वात्मना विनाशः। एतत्त्रिविधानित्यताप्रतिक्षेपेण नित्यतां प्रतिपादयितुमुक्तं **ध्रुवमित्यादि**। तत्र **ध्रुवम् कूटस्थमिति** संसर्गानित्यता परिहृता, **अविचालीति** परि-णामानित्यता, **अनपायेत्यादिना** प्रध्वंसानित्यता। **यन्नित्यमिति**। **बुद्धिप्रतिभासः** शब्दार्थौ यदा यदा शब्द उच्चारितस्तदा तदाऽर्थाकारा बुद्धिरुपजायते इति प्रवाह-नित्यत्वादर्थस्य नित्यत्वमित्यर्थः।

अनुवाद—आकृति को भी पदार्थ मानने पर यह विग्रह न्याय्य है—शब्द, अर्थ और सम्बन्ध के सिद्ध रहने पर।

और (अभी) जो कहा था (कि) आकृति अनित्य है।

ऐसा नहीं है। आकृति नित्य है।

कैसे (कहा) ?

कहीं (एक स्थान पर) विलय होकर सर्वत्र विलय नहीं हो जाती। अन्य

द्रव्य में तो उपलब्ध होती ही है।

अथवा यह नित्य होने का लक्षण नहीं है (कि) जो ध्रुव, स्वरूप में अवस्थित नित्य सुस्थित, परिणाम, विपरिणाम, विकाररहित, उत्पत्तिरहित, वृद्धिरहित और क्षयरहित हो, वही नित्य है। वह भी नित्य है, जिसमें तत्त्व नष्ट नहीं होता।

फिर तत्त्व क्या है ?

उस वस्तु का (स्व) भाव तत्त्व है। आकृति में भी तत्त्व नष्ट नहीं होता।

अथवा इससे क्या कि यह नित्य है, अथवा यह अनित्य है। जो भी नित्य है, उसे पदार्थ मानकर यह विग्रह किया जाता है—शब्द, अर्थ और सम्बन्ध के सिद्ध होने पर।

उषा—पद का अर्थ आकृतिरूप मानकर भी शब्द, अर्थ और सम्बन्ध इन तीनों की नित्यता को सिद्ध किया जा सकता है। यहां 'आकृति' पद का अर्थ 'जाति' है। 'अपि' शब्द के प्रयोग से द्रव्य का ग्रहण किया गया है अर्थात् द्रव्य रूप में तो अर्थ नित्य है ही, जाति रूप में भी नित्य है। किसी एक द्रव्य में अनभिव्यक्त होती हुई भी जाति सर्वत्र अप्रत्यक्ष नहीं हो जाती। एक स्थान पर घटिका की आकृति नष्ट होकर भी सर्वत्र नष्ट नहीं होती। अन्य पदार्थों में उसका सत्त्व उसकी नित्यता बताता है।

जाति की व्यञ्जिका आकृति व्यवहार काल में उत्पन्न और नष्ट होते हुए भी प्रकारान्तर से नित्य है। संसर्गानित्यता, परिणामानित्यता और प्रध्वंसानित्यता के रूप में अनित्यता तीन प्रकार की मानी गई है। लाक्षा आदि पदार्थों के संसर्ग से स्फटिक के स्वरूप का तिरोधान हो जाता है, यह संसर्गानित्यता है। बदरी आदि फलों में श्यामता का तिरोभाव होकर लौहित्य का आविर्भाव परिणामानित्यता है तथा वस्तु का सर्वात्मना विनाश प्रध्वंसानित्यता है। केवल मात्र इस तीन प्रकार की अनित्यता से रहित होना ही नित्यता का लक्षण नहीं है। इस प्रकार की नित्यता ब्रह्म से सम्बद्ध है, इसे कूटस्थ नित्यता कहते हैं। पदार्थ एक स्थान पर नष्ट होकर भी भावरूप में अन्यत्र वर्तमान रहता है, अत: उसमें प्रवाहनित्यता है। क्योंकि उसका नाश हो जाने पर भी उसका धर्म नष्ट नहीं होता।

शब्द का उच्चारण तत्तदाकारा अर्थभावना को बुद्धि में व्यक्त कर देता है अत: पदार्थ को केवल बाह्य रूप में न मानकर बौद्ध रूप में स्वीकार करने से उसकी नित्यता स्वयमेव सिद्ध हो जाती है। शशशृङ्ग इत्यादि पदार्थ भी इसीलिए स्वरूपत: सिद्ध न होने पर बुद्धि में प्रतिभासित होने के कारण बोध के विषय बनते हैं।

अतएव चाहे द्रव्य को पदार्थ मानकर "सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे" का विग्रह

किया जाये अथवा जाति को पदार्थ मानकर, दोनों ही दृष्टियां उपयुक्त हैं। पाणिनि ने दोनों प्रकार के अर्थों की नित्यता को स्वीकार किया है।

मूलम्—कथं पुनर्ज्ञायते—सिद्धः शब्दोऽर्थः सम्बन्धश्चेति।

लोकतः। यल्लोकेऽर्थमर्थमुपादाय शब्दान्प्रयुञ्जते, नैषां निर्वृत्तौ यत्नं कुर्वन्ति। ये पुनः कार्या भावा निर्वृत्तौ तावत्तेषां यत्नः क्रियते। तद्यथा—घटेन कार्यं करिष्यन्कुम्भकारकुलं गत्वाह—कुरु घटं कार्यमनेन करिष्यामीति। न तावच्छब्दान्प्रयुयुक्षमाणो वैयाकरणकुलं गत्वाह—कुरु शब्दान्प्रयोक्ष्य इति। तावत्येवार्थमुपादाय शब्दान्प्रयुञ्जते।

प्रदीपः—लोकत इति। अन्यथा कार्येषु लोकव्यवहारः, अन्यथा नित्येषु। शाब्दश्च व्यवहारोऽनादिवृद्धव्यवहारपरम्पराव्युत्पत्तिपूर्वक इति शब्दादीनां नित्यत्वम्। घटादयस्त्वर्थक्रियार्थिभिरन्यत आनीयन्त उत्पादविनाशयुक्ताश्चोपलभ्यन्ते। नैवं शब्दादयः। तावत्येवार्थमिति। बुद्ध्या वस्तु निरूप्येत्यर्थः।

अनुवाद—फिर (यह) कैसे जाना जाता है कि शब्द, अर्थ और सम्बन्ध नित्य है।

लोक से। क्योंकि लोक में तत्तदर्थ को कहने के लिए शब्दों का प्रयोग करते हैं। (परन्तु) इनके निर्माण में यत्न नहीं करते। जो कार्य भाव हैं उनके निर्माण में यत्न किया जाता है। जैसे कि घड़े से काम करना चाहता हुआ कुम्भकार कुल में जाकर कहता है—'घड़ा बनाइये, मैं इससे कार्य करूंगा,' उसी प्रकार शब्दों के प्रयोग की इच्छा करता हुआ वैयाकरणकुल में जाकर नहीं कहता—'शब्द बनाओ, मैं प्रयोग करूँगा। वैसे ही अर्थ को लेकर शब्दों का प्रयोग करता है।

उषा—शास्त्र लोक से अनुप्राणित होता है अथवा लोक शास्त्र से अनुशिष्ट, इसी प्रश्न को मन में रखकर भाष्यकार ने यह निर्णय दिया है कि शब्द, अर्थ और उसके सम्बन्ध की नित्यता का प्रमाण लोकव्यवहार है। शब्द से अर्थबोधन का व्यवहार अनादिकाल से चला आ रहा है, व्याकरण तो केवल उस लोकव्यवहार का अनुशासन मात्र करता है। अतः लोक प्रधान है, शास्त्र गौण। इसी बात को पुष्ट करने के लिए पतञ्जलि ने एक सुन्दर आख्यान प्रस्तुत किया है। घट का प्रयोग करने की इच्छा से जिस प्रकार व्यक्ति कुम्भकार के पास जाकर घट ले आता है, उसी प्रकार शब्दों का प्रयोग करने का इच्छुक व्यक्ति वैयाकरण के पास जाकर शब्दों को याचना नहीं करता प्रत्युत वह अपनी इच्छा से लोक में प्रचलित शब्दों का प्रयोग कर लेता है। व्याकरण उसके विषय में शुद्ध और अशुद्ध का विवेचन करके धर्म की प्रतिष्ठापना मात्र करता है। न केवल पतञ्जलि प्रत्युत उनसे पूर्व स्वयं पाणिनि लोकव्यवहार को ही सर्वश्रेष्ठ प्रमाण के रूप में स्वीकार कर चुके थे—

प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात् ।

इसी की व्याख्या करते हुए काशिकाकार ने कहा है—

"अन्यो लोकः । शब्दैरर्थाभिधानं स्वाभाविकम् । लोकत एवार्थगतेः ।"

मूलम्—यदि तर्हि लोक एषु प्रमाणं, किं शास्त्रेण क्रियते ?

***लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः ।**

लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः क्रियते । किमिदं धर्मनियम इति । धर्माय नियमो धर्मनियमः, धर्मार्थो वा नियमो धर्मनियमः, धर्मप्रयोजनो वा नियमो धर्मनियमः ।

प्रदीपः—अत्र भाष्यकारेण सम्भवन्तीमप्येकवाक्यतामनाश्रित्य वाक्यत्रयं व्यवस्थापितम् । सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे शास्त्रं प्रवृत्तमित्येकं वाक्यम् । कथं ज्ञायत इति प्रश्ने लोकतो ज्ञायते इति द्वितीयम् । लोकत इत्यस्यावृत्त्या **लोकतोऽर्थप्रयुक्ते** इत्यादि तृतीयम् । **शब्दप्रयोग इति** प्रयोगग्रहणेन "प्रयोगाद्धर्मो न तु ज्ञानमात्राद्" इत्युक्तं भवति । अर्थेनात्मप्रत्यायनाय प्रयुक्तोऽर्थप्रयुक्तः । **धर्माय नियम इति ।** धर्मार्थत्वान्नियम एव धर्मशब्देनाभिधीयत इति कर्मधारयः समासः । **धर्मप्रयोजन इति** । लिङादिविषयेण नियोगाख्येन धर्मेण प्रयुक्त इत्यर्थः ।

अनुवाद—यदि लोक इसमें प्रमाण है तो शास्त्र से क्या किया जाता है ?

लोक में अर्थ विशेष में प्रयुक्त शब्द के प्रयोग में शास्त्र से धर्म का नियम ।

लोक में अर्थ विशेष में प्रयुक्त (प्रसिद्ध) शब्द के प्रयोग में शास्त्र से धर्म का नियमन किया जाता है । धर्म के लिए धर्मनियम है अथवा धर्मरूप नियम धर्म नियम है अथवा धर्म का प्रयोजक नियम धर्मनियम है ।

उषा—"शब्दार्थ सम्बन्धों की नित्यता यदि लोक व्यवहार से ही सिद्ध है है तो शास्त्र निष्प्रयोजन होकर रह जाता है", पूर्वपक्षी की इस शङ्का का समाधान प्रकृत वार्तिक से किया गया है । लोक में अर्थ के द्वारा आत्मप्रत्यायन के लिए प्रयुक्त शब्दों का शास्त्र के द्वारा धर्मनियम किया जाता है ।

"शब्दप्रयोगे" में प्रयोग शब्द का ग्रहण करके यह निर्देश किया गया है कि साधु शब्दों के व्यवहार में प्रयोग से धर्म की प्राप्ति होती है, केवल ज्ञान से नहीं ।

'धर्मनियमः" पद की भाष्यकार ने तीन प्रकार से व्युत्पत्ति प्रदर्शित की है—(१) धर्माय नियमः (२) धर्मार्थो नियमः (३) धर्मप्रयोजनो नियमः । प्रदीपकार के अनुसार प्रथम व्युत्पत्ति में चतुर्थी विभक्ति तादर्थ्य सम्बन्ध को बताने के लिए है, अतः 'धर्म' पद 'अपूर्व' अर्थ में पर्यवसित होता है । धर्मार्थ ही होने के कारण द्वितीय व्युत्पत्ति में नियम को ही 'धर्म' शब्द से कहा गया है, अतः यहाँ कर्म-

धारय समास होगा—"धर्मश्चासौ नियमः।" तृतीय व्युत्पत्ति में धर्म का अर्थ नियोग है।

उद्योतकार ने इन व्युत्पत्तियों को प्रकारान्तर से भी प्रदर्शित किया है। "धर्माय नियमः" इससे, प्रत्यवाय-परिहार रूप धर्म के लिए यह नियम है, ऐसा ग्रहण किया जाता है, क्योंकि असाधु शब्द के प्रयोग से अधर्म होता है। "धर्मार्थो नियमः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'धर्म' का अर्थ यागादि है। "नानृतं वदेत्" इत्यादि कर्माङ्गनिषेधक वाक्य यागादि का अङ्ग होने के कारण याग ही होते हैं और उन्हें 'धर्म' पद से कहा जाता है। तृतीय व्युत्पत्ति में 'धर्म' पद से 'अपूर्व' अर्थ का सूचन है।

मूलम्—*यथा लौकिकवैदिकेषु।

प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः—यथा लोके वेदे चेति प्रयोक्तव्ये यथा लौकिकवैदिकेष्विति प्रयुञ्जते। अथवा युक्त एवात्र तद्धितः। यथा लौकिकेषु वैदिकेषु च कृतान्तेषु।

लोके तावद् 'अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटः, अभक्ष्यो ग्राम्यसूकर' इत्युच्यते। भक्ष्यं च नाम क्षुत्प्रतिघातार्थमुपादीयते। शक्यं चानेन श्वमांसादिभिरपि क्षुत्प्रतिहन्तुम्। तत्र नियमः क्रियते—इदं भक्ष्यमिदमभक्ष्यमिति। तथा—खेदात्स्त्रीषु प्रवृत्तिर्भवति। समानश्च खेदविगमो गम्यायां चागम्यायां च। तत्र नियमः क्रियते—इयं गम्येयमगम्येति।

प्रदीपः—प्रियतद्धिता इति। नायमपशब्दः किन्तु ये लोकवेदयोर्भवा अवयवास्ते लोकवेदशब्दाभ्यामभिधातुं शक्यन्ते। आधाराधेयभावकल्पनया तु तद्धितप्रयोगः प्रियतद्धितनिमित्तः। यथा कश्चिद्वनस्पतय इति प्रयुङ्क्ते कश्चिद्वानस्पत्यमिति समूहप्रत्ययान्तम्। अथवेति। नात्रावयवावयविविभागः, किं तर्हि लोकवेदव्यतिरिक्तसिद्धान्तशब्दार्थोभयरूप इत्यर्थः। लौकिकः स्मृत्युपनिबद्धः। वैदिकः श्रुत्युपनिबद्धः। शक्यं चानेनेति। शकेः कर्मसामान्ये लिङ्गसर्वनामनपुंसकयुक्ते कृत्यप्रत्ययः। ततः पदान्तरसम्बन्धादुपजायमानमपि स्त्रीत्वं बहिरङ्गत्वादन्तरङ्गसंस्कारं न बाधत इति शक्यं क्षुदित्युक्तम्। यदा तु पूर्वमेव विशेषविवक्षा तदा शक्या क्षुदिति भवत्येव। यदा तु प्रतिघातस्यैव क्षुत्कर्म शकेस्तु प्रतिघातस्तदा क्षुधं प्रतिहन्तुं शक्यमिति भवति। खेदादिति। खेदयतीति खेदो रागः, इन्द्रियनियमासामर्थ्यं वा खेदः।

अनुवाद—जैसे लौकिक और वैदिक (उदाहरणों) में।

दाक्षिणात्य (लोग) तद्धितप्रिय होते हैं, जैसे 'लोके', 'वेदे' ऐसा प्रयोग करने के स्थान पर "लौकिकवैदिकेषु' ऐसा प्रयोग करते हैं। अथवा यहाँ तद्धित युक्त ही है। जैसे लोकप्रसिद्ध तथा वेदप्रसिद्ध सिद्धान्तों में।

जैसे लोक में "ग्राम्यकुक्कुट अभक्ष्य है, ग्राम्यसूकर अभक्ष्य है" ऐसा कहा जाता है। भोज्य (का ग्रहण) क्षुधानिवृत्ति के लिए उपादेय है और क्षुधानिवृत्ति

कुक्कुर के मांस से भी की जा सकती है। वहाँ नियम किया जाता है—यह भक्ष्य है, यह अभक्ष्य है।

उसी प्रकार राग से स्त्रियों में प्रवृत्ति होती है। गम्या और अगम्या में रागनिवृत्ति तो समान ही है। वहाँ नियम किया जाता है—यह गम्या है, यह अगम्या है।

उषा—लोक में अर्थ के निमित्त शब्द का प्रयोग होने पर शास्त्र धर्म का नियमन करता है, जिस प्रकार से लोक और वेद में।

यहाँ वार्त्तिकस्थ "लौकिकवैदिकेषु" शब्द को उठाकर भाष्यकार ने यह कहा है कि यहाँ वार्त्तिककार का दाक्षिणात्य होना सूचित होता है क्योंकि वे निरर्थक शब्दाडम्बर में रुचि रखते हैं। "समुदायेषु प्रवृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि वर्त्तन्ते" इस नियम से 'लोक' और 'वेद' शब्दों की समुदाय और उनके अवयव दोनों में ही समान रूप से प्रवृत्ति हो सकती है। अतः यहाँ लोक और वेद के अवयवों का बोध करवाने की इच्छा से तद्धित प्रत्यय अनावश्यक ही है। तथापि वार्त्तिककार लोक और वेद समुदाय तथा उनके अवयव में, जो वस्तुतः अभिन्न हैं, भेद की कल्पना करके "तत्र भवः" इस अर्थ में ठञ् प्रत्यय करते हैं।

एक अन्य दृष्टि से यहाँ अवयव-अवयविविभाग न मानकर आधाराधेयभाव को भी भाष्यकार ने उचित माना है। एवं च "तत्र भवः" से तद्धित प्रत्यय उपयुक्त ही सिद्ध होता है। ऐसी स्थिति में इसका अर्थ होगा—'लोक और वेद में वर्त्तमान सिद्धान्त।'

यहाँ वैदिक से अभिप्राय है—"श्रुत्युपनिबद्ध" तथा लौकिक से अभिप्राय है—"स्मृत्युपनिबद्ध।"

स्मृतिवाक्यों में इस प्रकार के नियम किये जाते हैं कि अमुक वस्तु भक्ष्य है अमुक अभक्ष्य अथवा अमुक प्रकार की स्त्री समागम के योग्य है, अमुक प्रकार की अयोग्य। भक्षण क्षुत्प्रतिघात के लिए तथा स्त्री समागम राग के कारण किया जाता है। क्षुत्प्रतिघात किसी भी वस्तु का भक्षण करके किया जा सकता है, एवमेव रागनिवृत्ति किसी भी स्त्री से समागम करके हो सकती है। इस प्रकार का स्मृत्युपदिष्ट नियमन अभ्युदयकारी तथा श्रेयस्कर होता है।

मूलम्—वेदे खल्वपि—"पयोव्रतो ब्राह्मणो यवागूव्रतो राजन्य आमिक्षव्रतो वैश्यः" इत्युच्यते। व्रतं च नामाभ्यवहारार्थमुपादीयते। शक्यं चानेन शालिमांसादीन्यपि व्रतयितुम्। तत्र नियमः क्रियते।

तथा "बैल्वः खादिरो वा यूपः स्याद्," इत्युच्यते। यूपश्च नाम पश्वनुबन्धार्थमुपादीयते। शक्यं चानेन यत्किञ्चिदेव काष्ठमुच्छ्रित्यानुच्छ्रित्य वा पशुरनुबन्धुम्। तत्र नियमः क्रियते।

तथा "अग्नौ कपालान्याश्रित्याभिमन्त्रयते—भृगूणामङ्गिरसां धर्मस्य तपसा तप्यध्वम्" इति । अन्तरेणापि मन्त्रमग्निर्दहनकर्मा कपालानि सन्तापयति । तत्र च नियमः क्रियते— एवं क्रियमाणमभ्युदयकारि भवतीति ।

एवमिहापि समानायामर्थावगतौ शब्देन चापशब्देन च धर्मनियमः क्रियते—शब्देनैवार्थोऽभिधेयो नापशब्देनेति । एवं क्रियमाणमभ्युदयकारि भवतीति ।

प्रदीप:—पयोव्रत इति । सत्यामर्थितायां पय एव व्रतयतीति नियमोऽयं न तु विधिः, अर्थित्वाभावे कारणाभावात् । समानायामिति । यद्यपि साक्षादपभ्रंशा न वाचकास्तथापि स्मर्यमाणसाधुशब्दव्यवधानेनार्थं प्रत्याययन्ति, केचिच्चापभ्रंशाः परम्परया निरूढिमागताः साधुशब्दानस्मारयन्त एवार्थं प्रत्याययन्ति । अन्ये तु मन्यन्ते —साधुशब्दवदपभ्रंशा अपि साक्षादर्थस्य वाचका इति ।

अनुवाद—वेद में भी "ब्राह्मण दूध का व्रत करे, क्षत्रिय यवागू का व्रत करे, वैश्य आमिक्षा का व्रत करे, ऐसा कहा जाता है । व्रत का उपादान अभ्यवहार (भोज्य नियमन) के लिए किया जाता है । शालिमांस आदि से भी यह व्रत किया जा सकता है । वहाँ नियम किया जाता है ।

उसी प्रकार "यूप बिल्व अथवा खैर का होना चाहिए," ऐसा कहा जाता है । यूप का उपादान पशु को बाँधने के लिए किया जाता है । किसी भी छिले अनछिले काष्ठ से पशु को बाँधा जा सकता है । वहाँ नियम किया जाता है ।

वैसे ही "अग्नि पर कपालों को रखकर मन्त्र पढ़ता है 'भृगु और अङ्गिरसों के तेज से तपो' ।" मन्त्र के बिना भी दहनकर्मा अग्नि कपालों को तपाती हैं, वहाँ नियम किया जाता है, (क्योंकि) ऐसा करना अभ्युदयकारी होता है ।

इसी प्रकार यहाँ भी शब्द और अपशब्द से समान अर्थावगति होने पर भी धर्म के लिए नियम किया जाता है—'शब्द से ही अर्थ का अभिधान होना चाहिए, अपशब्द से नहीं । ऐसा किया जाना अभ्युदयकारी होता है ।"

उषा—इसी प्रकार का विधान वेद में भी किया जाता है । किसी भी विधि से प्राप्यमाण अर्थों में भी श्रुति एक विशिष्ट नियम प्रदान करती है, क्योंकि ऐसा करने से मनुष्य अभ्युदय से युक्त होता है ।

इसी प्रकार से शब्द और अपशब्द दोनों के ही द्वारा अर्थ का अभिधान हो सकता है । 'गो' शब्द जिस प्रकार से सास्नादिमत्पदार्थ का बोध करता है, उसी प्रकार से यह बोध गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका इत्यादि अपभ्रष्ट शब्दों से भी हो सकता है । परन्तु यह नियम किया जाता है कि साधु शब्द से ही अर्थ का अभिधान करवाना चाहिए, असाधु से नहीं । क्योंकि ऐसा करना कल्याणकारी होता है । भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में यही बात इन शब्दों में कही है—

शिष्टेभ्य आगमात्सिद्धाः साधवो धर्मसाधनम् ।
अर्थप्रत्ययनाऽभेदे विपरीतास्त्वसाधवः ॥

मूलम्—*अस्त्यप्रयुक्तः—

सन्ति वै शब्दा अप्रयुक्ताः। तद्यथा—ऊष, तेर, चक्र, पेचेति।

किमतो यत्सन्त्यप्रयुक्ताः ?

प्रयोगाद्धि भवाञ्छब्दानां साधुत्वमध्यवस्यति। य इदानीमप्रयुक्ता नामी साधवः स्युः।

इदं तावद् विप्रतिषिद्धम्—यदुच्यते—'सन्ति वै शब्दा अप्रयुक्ता' इति। यदि सन्ति नाप्रयुक्ताः, अथाप्रयुक्ता न सन्ति, सन्ति चाप्रयुक्ताश्चेति विप्रतिषिद्धम्। प्रयुञ्जान एव खलु भवानाह—सन्ति शब्दा अप्रयुक्ता इति। कश्चेदानीमन्यो भवज्जातीयकः पुरुषः शब्दानां प्रयोगे साधुः स्यात् ?

नैतद्विप्रतिषिद्धम्। सन्तीति तावद्ब्रूमः। यदेताञ्शास्त्रविदः शास्त्रेणानुविदधते। अप्रयुक्ता इति ब्रूमः यल्लोकेऽप्रयुक्ता इति। यदप्युच्यते—कश्चेदानीमन्यो भवज्जातीयकः पुरुषः शब्दानां प्रयोगे साधुः स्यादिति। न ब्रूमोऽस्माभिरप्रयुक्ता इति।

किं तर्हि ?

लोकेऽप्रयुक्ता इति।

ननु च भवानप्यभ्यन्तरो लोके।

अभ्यन्तरोऽहं लोके, न त्वहं लोकः।

प्रदीपः—अस्त्यप्रयुक्त इति। प्रयोगमूलत्वादस्याः स्मृतेरप्रयुक्तानामप्यन्वाख्यानादप्रामाण्यमाशङ्कते। यथा घटादीनां विनाप्यर्थक्रियया सत्त्वं गम्यते नैवं शब्दानां, ते हि सर्वदा व्यवहाराय प्रयुज्यमानाः सन्तः सत्त्वेनावसीयन्त इत्याह—इदमिति। कश्चेदानीमिति। उपहासपरम्। उत्तरं तु शास्त्रदृष्ट्या प्रकृतिप्रत्ययादिसद्भावादनुमितसत्त्वाः, व्यवहारे तु न दृश्यन्त इत्युक्तम्। न त्वहं लोक इति। यथा लोकोऽर्थावगमाय शब्दान्प्रयुङ्क्ते नैवं मयैतेऽर्थे प्रयुक्ता अपि तु स्वरूपपदार्थका इत्यर्थः।

अनुवाद—अप्रयुक्त (शब्दराशि) है—

निश्चय ही अप्रयुक्त शब्द भी हैं, जैसे कि ऊष, तेर, चक्र, पेच इत्यादि।

इससे क्या यदि (वे) अप्रयुक्त हैं।

क्योंकि आप प्रयोग से ही शब्दों का साधुत्व निश्चय करते हैं। जो अब अप्रयुक्त हैं, सम्भवतः वे असाधु हों।

यह तो (परस्पर) विरुद्ध है—जो कहा गया है—'शब्द है और अप्रयुक्त (भी) हैं। यदि हैं (तो) अप्रयुक्त नहीं हैं, यदि अप्रयुक्त हैं (तो) हैं नहीं, हैं (भी) और अप्रयुक्त (भी) हैं, यह परस्पर विरुद्ध है। प्रयोग करते हुए ही आप कह रहे हैं—'शब्द अप्रयुक्त हैं।' और कौन आप जैसा दूसरा पुरुष शब्दों के प्रयोग में कुशल होगा।

यह परस्पर विरुद्ध नहीं हैं। 'हैं' ऐसा (हम) कह रहे हैं। क्योंकि शास्त्रज्ञ शास्त्र के द्वारा इनका विधान करते हैं। "अप्रयुक्त हैं" ऐसा भी कहते हैं क्योंकि लोक में अप्रयुक्त हैं। जो यह कहा गया है "आप जैसा कौन अन्य पुरुष शब्द के प्रयोग में कुशल होगा" (सो) हम यह नहीं कहते कि हमारे द्वारा अप्रयुक्त हैं।

तो क्या (कहते हो) ?

कि लोक में अप्रयुक्त हैं।

आप भी तो लोक के भीतर हैं।

मैं लोक के भीतर हूं, मैं (ही) लोक नहीं हूं।

उषा—"अस्त्यप्रयुक्तः" यह वार्त्तिकांश भाष्यकार ने पूर्वपक्ष की स्थापना के लिए प्रस्तुत किया है। लोक में प्रयुक्त शब्दों के शास्त्र द्वारा नियमन की बात पहले की गई है। वहाँ यह निर्णय भी लिया गया है कि प्रयुज्यमान साधु शब्द धर्म का हेतु बनता है। एवम्, अप्रयुक्त शब्दों का असाधुत्व अनुमान से सिद्ध हो जाता है।' व्याकरण स्मृति जब अप्रयुक्त (असाधु) शब्दों का अन्वाख्यान करती है तो उसमें अप्रामाण्य की शंका उपपन्न होती है।

परन्तु सिद्धान्ती के मत में यह बात विप्रतिषिद्ध है। शब्दों का सत्त्व उनकी प्रायोगिक स्थिति में सम्भव हो सकता है, एवं च यदि शब्द हैं तो वे अप्रयुक्त नहीं हो सकते और यदि वे अप्रयुक्त हैं तो उनका सत्त्व भी सन्दिग्ध है। अपि च, स्वयमेव शब्द का प्रयोग करके उसे अप्रयुक्त कहना अपने आप में ही उपहासास्पद है।

पूर्वपक्षी ने सिद्धान्ती के इस समाधान पर पुनः आक्षेप करते हुए अपने कथन को और स्पष्ट किया है। शब्द का सत्त्व शास्त्र के द्वारा विधान होने के कारण सिद्ध होता है, परन्तु लोक में उनका अप्रयोग व्याकरण-स्मृति पर प्रश्नचिह्न लगाता है। पूर्वपक्षी ने इन शब्दों का प्रयोग अवश्य किया है, परन्तु यह प्रयोग लोक में जिस अर्थ-सङ्क्रान्ति की भावना से होता है, उस दृष्टि से नहीं किया गया। उसने केवल स्वरूप स्पष्ट करने के लिए ही ऊष, तेर, चक्र और पेच शब्दों का उच्चारण किया है।

मूलम्—* अस्त्यप्रयुक्त इति चेन्नार्थे शब्दप्रयोगात्—

अस्त्यप्रयुक्त इति चेत्। तन्न। किं कारणम्। अर्थे शब्द-प्रयोगात्। अर्थे शब्दाः प्रयुज्यन्ते। सन्ति चैषां शब्दानामर्था येष्वर्थेषु प्रयुज्यन्ते।

*अप्रयोगः प्रयोगान्यत्वात्

अप्रयोगः खल्वप्येषां शब्दानां न्याय्यः। कुतः ? प्रयोगान्यत्वात्। यदेषां शब्दानामर्थेऽन्याञ्छब्दान्प्रयुञ्जते। तद्यथा—ऊषेत्यस्य शब्दस्य स्थाने—क्व यूयमुषिताः, तेरेत्यस्यार्थे—क्व यूयं तीर्णाः, चक्रेत्यस्यार्थे—क्व यूयं कृतवन्तः, पेचेत्यस्यार्थे—क्व यूयं पक्ववन्त इति।

अप्रयुक्ते दीर्घसत्रवत्

यद्यप्यप्रयुक्ता अवश्यं दीर्घसत्रवल्लक्षणेनानुविधेयाः तद्यथा दीर्घसत्राणि

वार्षशतिकानि वार्षसहस्रिकाणि च । न चाद्यत्वे कश्चिदप्याहरति । केवलमृषि-सम्प्रदायो धर्म इति कृत्वा याज्ञिकाः शास्त्रेणानुविदधते ।

प्रदीपः—अर्थे शब्दप्रयोगादिति । अर्थसद्भावः शब्दप्रयोगे लिङ्गम् । नहि विना शब्देनार्थप्रत्यायनमुपपद्यते । इतरोऽन्यथासिद्धतामाह—अप्रयोग इति । यतोऽन्ये तेषामर्थानां सन्ति वाचकास्ततो नैषामनुमानमुपपद्यते । यद्यप्यूषेत्स्य उषिता इति समानार्थो न भवति परोक्षतादेर्विशेषस्यानवगमात्तथापि तत्प्रत्यायनाय पदान्तरसहितः प्रयुज्यते । संप्रत्यप्रयुज्यमानानामपि पूर्वं प्रयुक्तत्वादनुशासनं कर्त्तव्यमित्याह—अप्रयुक्त इति । ऋषिसम्प्रदाय इति । वेदाध्ययनमित्यर्थः ।

अनुवाद—"यदि" अप्रयुक्त है," ऐसा कहा जाये (तो) वह नहीं हैं क्योंकि शब्द का प्रयोग अर्थ में होता है ।"

यह जो 'अप्रयुक्त है' ऐसा (कहा गया है), वह नहीं है ।

क्या कारण है ?

अर्थ में शब्द का प्रयोग होने के कारण । क्योंकि शब्दों का प्रयोग अर्थ में होता है । इन शब्दों के तत्तदर्थ हैं, जिनमें इनका प्रयोग होता है ।

"(इन अर्थों में) अन्य शब्दों का प्रयोग होने के कारण इनका अप्रयोग है"—

अथवा इन शब्दों का अप्रयोग भी न्याय्य ही है ।

किस लिए ?

(इन अर्थों में) अन्य (शब्दों) के प्रयोग से । क्योंकि इन शब्दों के अर्थ में अन्य शब्दों का प्रयोग करते हैं । जैसे कि 'ऊष' इस शब्द के स्थान पर 'क्व यूयमुषिताः' (इस वाक्य में 'उषित' शब्द का प्रयोग), 'तेर' इस (शब्द) के अर्थ में क्व यूयं तीर्णाः' (इस वाक्य में 'तीर्ण' शब्द का प्रयोग), 'पेच' इस (शब्द) के अर्थ में 'क्व यूयं पक्ववन्तः' (इस वाक्य में 'पक्ववन्तः' शब्द का प्रयोग ।

अप्रयुक्त (शब्द) में दीर्घसत्र की तरह—

यद्यपि (शब्द) अप्रयुक्त हैं (तथापि) दीर्घकालीन यज्ञों की तरह शास्त्र के द्वारा इनका व्याख्यान आवश्यक है । जैसे सौ वर्षों और हजार वर्षों तक के दीर्घ-कालीन यज्ञ होते हैं । आजकल कोई भी उनका व्याख्यान नहीं करता । केवल ऋषि सम्प्रदाय के अनुसार यह धर्मजनक है, ऐसा कहकर मीमांसक शास्त्र में इनका आख्यान करते हैं ।

उषा—पूर्वपक्षी की "अस्त्यप्रयुक्तः" इस शंका का समाधान भाष्यकार ने तीन प्रकार से किया है—

(१) अर्थ का सत्त्व शब्द की सत्ता का अनुमापक है, क्योंकि शब्द के बिना अर्थप्रत्यायन नहीं किया जा सकता । जिन अर्थों में इन शब्दों का प्रयोग होता हैं, उनकी स्थिति से शब्दों की सत्ता का अनुमान किया जा सकता है ।

(२) अथवा इन शब्दों की अप्रयोगावस्था भी स्वीकार्य हो सकती है, क्योंकि इन शब्दों का जो अर्थ है, उस अर्थ में इनके अतिरिक्त अन्य शब्दों का प्रयोग दृष्टिगत होता है। ऊष, तेर, चक्र और पेच क्रमशः वस्, तृ, कृ और पच् धातुओं के लिट् लकार, मध्यम पुरुष, बहुवचन के रूप है। इन शब्दों के स्थान पर क्रमशः उषिताः, तीर्णाः, कृतवन्तः और पक्ववन्तः शब्दों का प्रयोग दिखाई देता है। यद्यपि 'ऊष' इत्यादि के स्थान पर "ऊषिताः" इत्यादि का प्रयोग सर्वथा समीचीन नहीं है क्योंकि इनमें लिट् लकार की परोक्षता आदि की अवगति समाहित नहीं हो पाती।

(३) अपि च, यदि ये शब्द अप्रयुक्त भी हों तो भी दीर्घकालीन यज्ञों के समान शास्त्र में इनका विधान अवश्य किया जाना चाहिए। जिस प्रकार से आज के युग में सौ और हजार वर्षों में पूर्ण होने वाले यज्ञों को कोई सम्पादित नहीं कर सकता तथापि धर्म मानकर शास्त्र के द्वारा उनका अन्वाख्यान अवश्य किया जाता है। अत एव धर्म मानकर इन शब्दों का व्याख्यान भी अवश्य किया जाना चाहिए।

मूलम्—* सर्वे देशान्तरे—
सर्वे खल्वप्येते शब्दा देशान्तरेषु प्रयुज्यन्ते।
न चैवोपलभ्यन्ते।

उपलब्धौ यत्नः क्रियताम्। महान् शब्दस्य प्रयोगविषयः। सप्तद्वीपा वसुमती। त्रयो लोकाः। चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा भिन्ना एकशतमध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यं नवधाथर्वणो वेदः। वाकोवाक्यमितिहासः पुराणं वैद्यकमित्येतावाञ्छब्दस्य प्रयोगविषयः। एतावन्तं शब्दस्य प्रयोगविषयमननुनिशम्य 'सन्त्यप्रयुक्ता' इति वचनं केवलं साहसमात्रमेव।

एतस्मिंश्चातिमहति शब्दस्य प्रयोग विषये ते ते शब्दास्तत्र तत्र नियतविषया दृश्यन्ते। तद्यथा शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति, विकार एवैनमार्या भाषन्ते शव इति। हम्मतिः सुराष्ट्रेषु, रंहतिः प्राच्यमध्येषु, गमिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जते। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु।

ये चाप्येते भवतोऽप्रयुक्ता अभिमताः शब्दा एतेषामपि प्रयोगो दृश्यते। क्व? वेदे। तद्यथा—"सप्तास्ये रेवती रेवदूष, यद्वो रेवती रेवत्यां तमूष, यन्मे नरः श्रुत्यं ब्रह्म चक्र, यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्" इति।

प्रदीपः—सर्वे इति। इदमत्र तात्पर्यम्—यस्य कस्यचिद्वचनात्प्रयोगाप्रयोगौ न व्यवतिष्ठेते, अपितु शिष्टानामेव वचनात्। वाकोवाक्यमिति। वाकोवाक्यशब्देनोक्तिप्रत्युक्तिरूपो ग्रन्थ उच्यते—यथा—"किंस्विदावपनं महद् भूमिरावपनं महत्" इति। पूर्वचरितसङ्कीर्तनमितिहासः। वंशाद्यनुकीर्तनं पुराणम्। विकार इति। जीवतो मृतावस्था विकारस्तत्रेत्यर्थः।

अनुवाद—सभी (अप्रयुक्त शब्द) अन्य देशों में—

ये सभी (अप्रयुक्त शब्द) अन्य देशों (स्थानों) में प्रयुक्त होते हैं।

परन्तु वे उपलब्ध नहीं होते।

(तो) उपलब्धि में यत्न कीजिये। शब्दप्रयोग का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। यह सप्तद्वीपा पृथ्वी है, तीन लोक हैं, वेदाङ्गों और रहस्य (उपनिषत्साहित्य) सहित चार वेद हैं। (उनके) नाना भेद हैं—यजुर्वेद की १०१ शाखायें हैं, सामवेद के १०० मार्ग हैं, बाह्वृच्य (ऋग्वेद) २१ प्रकार का है (उसकी २१ शाखायें हैं), अथर्ववेद ९ प्रकार का है। उक्तिप्रत्युक्तिरूप ग्रन्थ, इतिहास, पुराण, वैद्यक इत्यादि, इतना बड़ा शब्द प्रयोग का क्षेत्र है। इतने बड़े शब्द प्रयोग के विषय को बिना सुने "अप्रयुक्त हैं" ऐसा कहना केवल साहसमात्र ही है।

और इस इतने बड़े शब्दप्रयोग के क्षेत्र में तत्तच्छब्द उस-उस अर्थ में नियत विषय देखे जाते हैं। जैसे कि गतिकर्मा 'शवति' शब्द (शव् धातु का तिङन्त रूप) कम्बोज लोगों में ही बोला जाता है, आर्य लोग इसके विकार 'शव' शब्द का प्रयोग करते हैं। 'हम्मति' (हम्म् धातु का तिङन्त रूप) सुराष्ट्र देश में, 'रंहति' (रंह् धातु का तिङन्त रूप) प्राच्य और मध्य देशों में, आर्य तो (इस अर्थ में गम् धातु का ही प्रयोग करते हैं। 'दाति' (दा धातु का तिङन्त रूप) प्राच्य देशों में काटने के अर्थ में (प्रयुक्त होता है), उदीच्य प्रदेशों में (लोग) दात्र का प्रयोग करते हैं।

और ये जो शब्द आप को अप्रयुक्त (रूप में) अभिमत हैं, उनका भी प्रयोग देखा जाता है।

कहाँ ?

वेद में। जैसेकि "सप्तास्ये रेवती रेवदूष," "यद्वो रेवती रेवत्यां तमूष," "यन्मे नरः श्रुत्यं ब्रह्मचक्र," "यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्" इत्यादि (श्रुतियों में)।

उषा—"छिन्ने मूले नैव पत्रं न शाखाः," आपाततः भ्रान्तियों का समाधान करने के अनन्तर सिद्धान्ती ने पूर्वपक्षी के मूल सिद्धान्त पर ही प्रहार करते हुए यह स्थापित किया है कि वे शब्द जिन्हें अप्रयुक्त समझा गया है, अन्यान्य देशों में प्रयुक्त हुए देखे जाते हैं। शब्द के प्रयोग का विषय अत्यन्त विस्तृत है। सात द्वीपों वाली पृथ्वी, तीन लोक, षडङ्ग तथा उपनिषत्सहित चार वेद। उन चार वेदों में भी यजुर्वेद की १०१, सामवेद की एक हजार, ऋग्वेद की इक्कीस तथा अथर्ववेद की ९ शाखाओं सहित कुल ११३० शाखायें हैं। इसके अतिरिक्त स्मृति, प्रश्नोत्तर रूप शास्त्रार्थ के ग्रन्थ, इतिहास, पुराण और वैद्यक शास्त्र के रूप में शब्द का विस्तार क्षेत्र है।

इस विस्तृत प्रयोग क्षेत्र में भी शब्द विभिन्न प्रदेशों से अलग-अलग अर्थों में प्रयुज्यमान देखे जाते हैं। तद्यथा कम्बोज प्रदेश में √शव् का गतिकर्म अर्थ में

प्रयोग होता है, आर्य इसके विकार रूप शव शब्द का प्रयोग करते हैं। सुराष्ट्र में √हम्म्, प्राच्य और मध्य देश में √रंह् तथा आर्य प्रदेशों में √गम् का प्रयोग एक ही अर्थ में होता है। ऐसी स्थिति में किसी शब्द को अप्रयुक्त कह देना उचित नहीं।

पुनश्च, भाष्यकार ने पूर्वपक्षी द्वारा उद्घृत किये गये चारों शब्दों का प्रयोग भी दिखाया है। ऊष, तेर, चक्र और पेच, ये चारों शब्द ऋक् मन्त्रों में प्राप्त होते हैं। "सप्तास्ये रेवती रेवदूष" इत्यादि श्रुति में 'ऊष' शब्द का तथा "यन्मे नरः श्रुत्यं ब्रह्म चक्र" इत्यादि श्रुति में 'चक्र' शब्द का प्रयोग दिखाया गया है। अतः पूर्वपक्षी द्वारा उठाई गई स्मृति के अप्रामाण्य की शंका निराधार हो जाती है।

मूलम्—किं पुनः शब्दस्य ज्ञाने धर्मः, आहो स्वित्प्रयोगे ?

कश्चात्र विशेषः ?

* ज्ञाने धर्म इति चेत्तथाऽधर्मः—

ज्ञाने धर्म इति चेत्तथाऽधर्मोऽपि प्राप्नोति। यो हि शब्दाञ्जानात्यपशब्दानप्यसौ जानाति। यथैव शब्दज्ञाने धर्म एवमपशब्दज्ञानेऽप्यधर्मः। अथवा भूयानधर्मः प्राप्नोति। भूयांसो ह्यपशब्दा अल्पीयांसः शब्दाः। एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद्यथा गौरित्यस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः।

* आचारे नियमः—

आचारे पुनर्ऋषिर्नियमं वेदयते—"तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः" इति।

प्रदीपः—किं पुनरिति। "एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग्भवति" इति श्रुतिः तत्र किं सम्यग् ज्ञातः कामधुग्भवति सुप्रयोगात्तु सम्यग्ज्ञातत्वानुमानमित्यर्थः, आहो स्वित्सुप्रयुक्तः कामधुग्भवति सुप्रयुक्तत्वं तु सम्यग्ज्ञानादित्यर्थ इति प्रश्नः। ज्ञाने धर्म इति चेदिति। यथा श्लेष्मणः प्रकोपनं स्नेहद्रव्यं रुक्षं तु वायोस्तथेहापि प्राप्तमिति भावः आचारे प्रयोगे। ऋषिर्वेदः।

अनुवाद—फिर क्या शब्द के ज्ञान में धर्म है, अथवा प्रयोग में ?

इसमें क्या विशेष (बात) है ?

"यदि ज्ञान में धर्म है, तो अधर्म (भी) हो"—

यदि (शब्द के) ज्ञान में धर्म (की प्राप्ति) हो तो अधर्म भी प्राप्त होता है। क्योंकि जो शब्द को जानता है, वह अपशब्दों को भी जानता है। जिस प्रकार से शब्द के ज्ञान में धर्म है, उसी प्रकार अपशब्द के ज्ञान में भी अधर्म है। अथवा अधिक अधर्म को प्राप्त करता है। अपशब्द अधिक हैं (साधु) शब्द कम हैं। एक एक शब्द के बहुत से अपभ्रंश हैं, जैसे कि 'गौः' इस एक (शब्द) के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका इत्यादि प्रकार के अपभ्रंश हैं।

"आचार में नियम है"—

ऋषि आचार में नियम बताता है—"वे असुर 'हेलयः हेलयः' करते हुए पराभव को प्राप्त हुए" ऐसा ।

उषा—श्रुति "एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग्भवति" ऐसा कहकर धर्म का प्रतिपादन करती है । श्रुति वाक्य में "सम्यग्ज्ञातः" और "सुप्रयुक्तः" इन दोनों ही पदों का समावेश है । अतः प्रश्न उठता कि शब्द का सम्यग्ज्ञान अभ्युदयकारक है अथवा सम्यक् प्रयोग । शब्द का सम्यक् ज्ञान उसके सम्यक् प्रयोग से अनुमेय है और सम्यक् प्रयोग सम्यक् ज्ञान से ही शक्य है ।

इनमें से यदि ज्ञान पक्ष को स्वीकार किया जाये तो साधु शब्द के ज्ञान से जिस प्रकार धर्म की प्राप्ति होती है, असाधु शब्द के ज्ञान से उसी प्रकार अधर्म की प्राप्ति भी होनी चाहिए । और इस प्रकार से अधर्म की सम्भावना अधिक ही होगी क्योंकि एक-एक शब्द के बहुत अपरूप हुआ करते हैं । जैसे 'गो' शब्द गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका इत्यादि अनेक अपभ्रष्ट रूपों में प्राप्त होता है ।

अपि च, "तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः" के रूप में श्रुति भी शब्द के प्रयोग में ही धर्म प्राप्ति की बात स्वीकार करती है । इस प्रकार ज्ञान मात्र से धर्म प्राप्ति की बात वेद विरुद्ध भी है ।

अतः शब्द के ज्ञानमात्र से अभ्युदय रूप धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती ।

मूलम्—अस्तु तर्हि प्रयोगे ।

*** प्रयोगे सर्वलोकस्य—**

यदि प्रयोगे धर्मः, सर्वो लोकोऽभ्युदयेन युज्येत ।

कश्चेदानीं भवतो मत्सरो, यदि सर्वो लोकोऽभ्युदयेन युज्येत ?

न खलु कश्चिन्मत्सरः । प्रयत्नानर्थक्यं तु भवति फलवता च नाम प्रयत्नेन भवितव्यम् । न च प्रयत्नः फलाद्व्यतिरेच्यः

ननु च ये कृतप्रयत्नास्ते साधीयः शब्दान्प्रोक्ष्यन्ते, त एव साधीयोऽभ्युदयेन योक्ष्यन्ते ।

व्यतिरेकोऽपि वै लक्ष्यते । दृश्यन्ते हि कृतप्रयत्नाश्चाप्रवीणा, अकृत-प्रयत्नाश्च प्रवीणाः । तत्र फलव्यतिरेकोऽपि स्यात् ।

प्रदीपः—न च प्रयत्न इति । यदि प्रयत्नेन विना फलं स्यात् प्रयत्नवैयर्थ्य-मापद्येतेत्यर्थः । व्यतिरेक इति । परिहासः ।

अनुवाद—तो प्रयोग में (धर्म) हो ।

"प्रयोग में सभी का"—

यदि (साधु शब्दों के) प्रयोग में धर्म हो तो सभी लोग अभ्युदय से युक्त हो जायें ।

इसमें आपको क्या जलन है, यदि समस्त लोक अभ्युदय से युक्त हो जायें ?

(हमें) कोई जलन नहीं है (परन्तु) प्रयत्नानर्थक्य तो उपपन्न हो जायेगा। प्रयत्न को फलवान् होना चाहिए। प्रयत्न फल से व्यतिरिक्त नहीं होना चाहिए।

निश्चित ही जिन्होंने प्रयत्न किया है वे शब्दों का साधु प्रयोग करेंगे, वे ही अधिक अभ्युदय से युक्त होंगे।

वैपरीत्य भी देखा जाता है। प्रयत्न करने वाले अकुशल और प्रयत्न न करने वाले कुशल देखे जाते हैं। वहाँ फल का भी वैपरीत्य होगा।

उषाः—शब्द ज्ञान में धर्मोपलब्धि का निरास करके प्रस्तुत अवतरण शब्द प्रयोग से धर्मोपलब्धि में दूषण दिखाता है। शब्द प्रयोग से धर्मप्राप्ति यदि सम्भव हो तो सभी प्रयोगमात्र से अभ्युदय से युक्त हो जायेंगे, भले ही उन्होंने शास्त्र का अनुशीलन अथवा व्याकरण का अध्ययन किया हो अथवा नहीं। ऐसी परिस्थिति में वैयाकरण और अवैयाकरण दोनों के द्वारा किये गये प्रयोग समान रूप से फलवान् होंगे। (व्याकरणाध्ययन रूप) प्रयत्न के बिना ही यदि अभ्युदय रूप फल की प्राप्ति होने लगे तो प्रयत्न—वैयर्थ्यप्रसङ्ग उपस्थित हो जायेगा।

ऐसी स्थिति में यह भी नहीं कहा जा सकता कि जो प्रयत्न करेंगे वे अधिक कुशल प्रयोग से अधिक अभ्युदय से युक्त होंगे। कुछ लोग व्यवहार में प्रत्युत्पन्न-मतित्व के अभाव में प्रयोग में प्रौढ़ नहीं हो पाते, अन्य लोग व्याकरण का अध्ययन किये बिना ही व्यवहार से शब्दज्ञान करके उनके प्रयोग में अधिक कुशल हो जाते हैं। मुग्ध वैयाकरण की अपेक्षा प्रौढ़ अवैयाकरण भी साधु शब्दों का कुशल प्रयोग करता है।

एवं च, प्रयोग पक्ष में भी धर्म प्राप्ति की बात को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

मूलम्—एवं तर्हि नापि ज्ञान एव धर्मो नापि प्रयोग एव

किं तर्हि ?

* शास्त्रपूर्वके प्रयोगेऽभ्युदयस्तत्तुल्यं वेदशब्देन —

शास्त्रपूर्वकं यः शब्दान्प्रयुङ्क्ते सोऽभ्युदयेन युज्यते। तत्तुल्यं वेदशब्देन। वेदशब्दा अप्येवमभिवदन्ति—"योऽग्निष्टोमेन यजते य उ चैनमेवं वेद," "योऽग्निं नाचिकेतं चिनुते य उ चैनमेवं वेद।"

अपर आह—तत्तुल्यं वेदशब्देनेति। यथा वेदशब्दा नियमपूर्वमधीताः फलवन्तो भवन्त्येवं यः शास्त्रपूर्वकं शब्दान्प्रयुङ्क्ते सोऽभ्युदयेन युज्यत इति।

प्रदीपः—तत्तुल्यमिति। वेदः शब्दो यस्यार्थस्य स वेदशब्दस्तस्य यथा ज्ञात्वानुष्ठानं तथा शब्दानामपि प्रकृत्यादिविभागज्ञानपूर्वकः प्रयोग इत्यर्थः। अपर आहेति। वेदश्चासौ शब्दश्च वेदशब्द इति कर्मधारयः।

अनुवाद—तो ऐसे में न हीं (केवल) ज्ञान में धर्म है न (केवल) प्रयोग में। तो क्या है ?

"वेद के शब्द के समान शास्त्रपूर्वक प्रयोग में अभ्युदय है"—

शास्त्रज्ञान पूर्वक जो शब्दों का प्रयोग करता है, वह अभ्युदय से युक्त होता है। 'तत्तुल्यं वेदशब्देन' का अभिप्राय है। कि वेद शब्द भी इसी प्रकार से कहते हैं।—"जो अग्निष्टोम यज्ञ करता है और जो इसे इस प्रकार से जानता है," "जो नाचिकेत अग्नि का चयन करता है और जो इसे इस प्रकार से जानता है"।

"तत्तुल्यं वेदशब्देनेति" (के व्याख्यान में) दूसरा कहता है कि जिस प्रकार से वेदशब्द नियमपूर्वक अध्ययन किये गये फलवान् होते हैं उसी प्रकार से जो शास्त्रपूर्वक शब्दों का प्रयोग करता है, वह अभ्युदय से युक्त होता है,

उषा—शब्दज्ञान तथा शब्द प्रयोग दोनों ही पक्षों के निरस्त हो जाने पर सिद्धान्ती श्रुति को प्रमाण मानता हुआ इन दोनों पक्षों में समन्वय स्थापित करके शास्त्र ज्ञानपूर्वक साधु शब्द के प्रयोग से धर्म प्राप्ति के पक्ष को सिद्धान्त के रूप में उपस्थापित करता है, अर्थात् जो ज्ञानपूर्वक साधु शब्दों का प्रयोग करता है, वह अभ्युदय से युक्त होता है।

अपने इस सिद्धान्त पक्ष के समर्थन में भगवत्पाद ने वेद के वाक्यों को प्रमाण के रूप में उपस्थित किया है। क्योंकि व्याकरण की दार्शनिक परम्परा भी शब्द-प्रमाणवादी है, यहाँ शब्द को प्रत्यक्ष के समान ही प्रामाणिक माना जाता है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में इस विषय में कहा है कि—

आविर्भूतप्रकाशानामनुपप्लुतचेतसाम्।
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते॥

"योऽग्निष्टोमेन यजते य उ चैनमेवं वेद", "योऽग्निं नाचिकेतं चिनुते य उ चैनमेवं वेद" इत्यादि वेदवाक्य ज्ञान और प्रायोगिकता दोनों की साथ-सांथ स्थिति को अभ्युदय हेतुत्व के रूप में स्वीकार करते हैं।

"शब्दक्रमादर्थक्रमो बलीयान्" इस नियम से इन वेद वाक्यों में "य उ चैनमेवं वेद" इस भाग का अन्वय पहले होना चाहिए, क्योंकि पहले ज्ञान तथा उसके अनन्तर ही अनुष्ठान की कल्पना सम्भव हो सकती है।

"तत्तुल्यं वेदशब्देन" की एक अन्य व्याख्या भी भाष्यकार ने उपस्थापित की है कि वेद जिस प्रकार से नियमपूर्वक अध्ययन किये जाने पर फल से युक्त होते हैं, उसी प्रकार से शास्त्रज्ञानपूर्वक जो शब्द का प्रयोग करता है, वह अभ्युदय से युक्त होता है। वेद का अध्ययन भी ज्ञानपूर्वक ही करने का विधान है—

अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव च।
योऽध्यापयेज्जपेद् वापि पापीयाञ्जायते तु सः॥

मूलम्—अथवा पुनरस्तु—ज्ञान एव धर्म इति ।

ननु चोक्तं ज्ञाने धर्म इति चेत्तथाऽधर्म इति ।

नैष दोषः । शब्दप्रमाणका वयम्, यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम् । शब्दश्च शब्दज्ञाने धर्ममाह, नापशब्दज्ञानेऽधर्मम् । यच्च पुनरशिष्टाप्रतिषिद्धं, नैव तद्दोषाय भवति, नाभ्युदयाय । तद् यथा हिक्कितश्वसितकण्डूयितानि नैव दोषाय भवन्ति, नाभ्युदयाय ।

अथवाऽभ्युपाय एवापशब्दज्ञानं शब्दज्ञाने । यो ह्यपशब्दाञ्जानाति । शब्दानप्यसौ जानाति । तदेवं "ज्ञाने धर्मः" इति ब्रुवतोऽर्थादापन्नं भवति—"अपशब्दज्ञानपूर्वके शब्दज्ञाने धर्मः" इति ।

अथवा कूपखानकवदेतद्भविष्यति । तद्यथा कूपखानकः कूपं खनन्यद्यपि मृदा पांसुभिश्चावकीर्णो भवति । सोऽप्सु सञ्जातासु तत एव तं गुणमासादयति । येन च स दोषो निर्हण्यते, भूयसा चाभ्युदयेन योगो भवति । एवमिहापि यद्यप्यपशब्दज्ञानेऽधर्मस्तथापि यस्त्वसौ शब्दज्ञाने धर्मस्तेन च स दोषो निर्घानिष्यते भूयसा चाभ्युदयेन योगो भविष्यति ।

यदप्युच्यते "आचारे नियम" इति ।

याज्ञे कर्मणि स नियमोऽन्यत्रानियमः । एवं हि श्रूयते "यर्वाणस्तर्वाणो नाम ऋषयो बभूवुः प्रत्यक्षधर्माणः परापरज्ञा विदितवेदितव्या अधिगतयाथातथ्याः ।" ते तत्रभवन्तो यद्वानस्तद्वान इति प्रयोक्तव्ये यर्वाणस्तर्वाण इति प्रयुञ्जते, याज्ञे पुनः कर्मणि नापभाषन्ते । तै पुनरसुरैर्याज्ञे कर्मण्यपभाषितम् ततस्ते पराभूताः ।

प्रदीपः—अथवेति । अपशब्दज्ञाननान्तरीयकत्वाच्छब्दज्ञानस्य पृथक् फलमपशब्दज्ञानस्य नास्तीत्यर्थः । दोष इति । उत्कृष्टधर्मफलावाप्तौ स्वल्पधर्मफलमुत्पन्नमप्यनुत्पन्नकल्पं भवतीत्यर्थः । प्रत्यक्षधर्माण इति । योगजप्रत्यक्षेण सर्वं विदितवन्तः परापरज्ञा इति । विद्याविद्याविभागज्ञाः ।

अनुवाद—अथवा फिर (ऐसा) हो—(शब्द के) ज्ञान में ही धर्म है ।

अभी जो कहा है कि यदि ज्ञान में धर्म है तो (अपशब्द के ज्ञान से) अधर्म भी है ।

यह दोष नहीं है । हम शब्दप्रमाणवादी हैं, जो शब्द कहता है वह हमारा प्रमाण है और शब्द (वेद) शब्द के ज्ञान में धर्म कहता है, अपशब्द के ज्ञान में अधर्म नहीं । और जो न तो शिष्ट हो और न प्रतिषिद्ध हो, वह न तो दोषजनक ही होता है, न अभ्युदयकारक ।

अथवा अपशब्दज्ञान शब्दज्ञान में उपाय ही है । जो अपशब्दों को जानता है, वह शब्दों को भी जानता है । इस प्रकार से "ज्ञान में धर्म है" ऐसा कहते हुए स्वयं ही यह अर्थ आपन्न होता है कि अपशब्दज्ञानपूर्वक शब्दज्ञान में धर्म है ।

अथवा (इसका समाधान) कूपखानक की तरह से होगा। जैसे कि कूप खोदने वाला यद्यपि मिट्टी और धूलि से अवलिप्त हो जाता है, वह जल से उत्पन्न (प्रकट) हो जाने पर वहीं से इष्ट साधन को प्राप्त करता है। जिससे वह दोष नष्ट हो जाता है और (वह) महान् अभ्युदय से युक्त होता है। इसी प्रकार से यहाँ भी यद्यपि अपशब्द के ज्ञान से अधर्म है तथापि जो शब्दज्ञान से धर्म प्राप्त होता है उससे वह दोष नष्ट हो जाता है और अभ्युदय का योग होता है।

जो यह कहा जाता है कि आचार में नियम है।

वह नियम यज्ञ कर्म में ही है, अन्यत्र नहीं। ऐसा सुना जाता है कि प्रत्यक्ष-धर्मा, विद्याऽविद्याविभागज्ञ, विदितवेदितव्य, अधिगतयाथातथ्य यर्वन् और तर्वन् नाम के ऋषि हुए थे। वे श्रीमान् "यद्वानः, तद्वानः" ऐसा प्रयोग करने के स्थान पर "यर्वाणः, तर्वाणः" ऐसा प्रयोग करते थे। परन्तु उन असुरों के द्वारा यज्ञ कर्म में भी अपभाषण किया गया, इसलिए वे पराभूत हुए।

उषा—अथवा, जैसा कि पहले भी कहा गया था, केवल ज्ञान मात्र से भी अभ्युदय की प्राप्ति हो सकती है। उस विवेचन प्रसङ्ग में इस पक्ष में जो दोष दिखाये गये थे, उनका भी समाधान हो सकता है।

प्रथम दोष धर्म प्राप्ति के साथ-साथ अधर्म की सम्भावना को लेकर उपस्थापित किया गया था। भाष्यकार ने तीन प्रकार से इसका समाधान किया है—

(१) प्रथम समाधान श्रुति को आधार मानकर उपस्थित किया गया है। शब्द "एकः शब्दः सम्यग्ज्ञात०" इत्यादि श्रुति के अनुसार शब्दज्ञान से धर्मप्राप्ति का निर्देश अवश्य करता है, परन्तु अपशब्द के ज्ञान से अधर्म प्राप्ति की बात श्रुति में नहीं कही गई। "तेऽसुरा०" इत्यादि के द्वारा जो पराभूत होने की बात है, वह अपशब्द के ज्ञान से नहीं, प्रत्युत असाधु शब्द के प्रयोग से उपपन्न होती है। और जिस वस्तु का निर्देश नहीं होता वह न तो अभ्युदय का हेतु हो सकती है, न अधर्म का कारण। जिस प्रकार से हिक्कित, श्वसित, कण्डूयित इत्यादि क्रियाओं के करने से न तो पुरुष अभ्युदय को प्राप्त करता है और न इनसे अधर्म ही होता है। अत एव श्रुति में निर्दिष्ट न होने के कारण अपशब्द का ज्ञान भी अधर्म-कारक नहीं होता।

(२) अपशब्द का ज्ञान भी शब्द का एक साधन ही है। गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका इत्यादि अपशब्दों का ज्ञान होने पर ही, "इनसे इतर 'गो' साधु शब्द है"। इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है। अथवा कहा जा सकता है कि जो अपशब्द को अपशब्दत्वेन जानता है, वही साधु शब्द को भी साधुशब्दत्वेन जान सकता है। अतएव जब शब्दज्ञान से धर्म की बात कही जाती है तो उसका

अभिप्राय यह होता है कि अपशब्दों के अपशब्दत्वेन ज्ञान सहित साधु शब्दों का साधुशब्दत्वेन ज्ञान धर्म का हेतु है ।

(३) प्रथम दो हेतुओं से ही यह सिद्ध हो जाता है कि अपशब्द का ज्ञान अधर्म का कारण नहीं प्रत्युत साधुशब्दज्ञान का साधन रूप होने के कारण फलवान् भी होता है। फिर भी, एक क्षण के लिए यदि यह कल्पना कर भी ली जाये कि अपशब्द से अधर्म की प्राप्ति होती है तो भी इसे दोषजनक नहीं कहा जा सकता। कूपखनन में जिस प्रकार से व्यक्ति पहले मिट्टी इत्यादि से लिप्त हो जाता है, परन्तु अनन्तर स्वच्छ जल उपलब्ध होने पर पुनः उसमें स्नान कर निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार से अपशब्दों के ज्ञान से यदि कोई दोष लगता भी है तो साधु शब्द का ज्ञान होने पर पुनः व्यक्ति उस दोष से मुक्त होकर अभ्युदय से युक्त होता है। उत्कृष्ट अधिक फल की प्राप्ति में यदि स्वल्प अधर्म फल भी हो रहा हो तो वह अनुत्पन्न के समान ही होता है ।

ज्ञानपक्ष में दूसरा दूषण श्रुति सम्मत आचार में नियम की बात को लेकर पूर्वपक्षी के द्वारा स्थापित किया गया था। भाष्यकार के अनुसार यह विशेष व्यवस्था यज्ञादि के लिए ही की गई है। अन्यत्र साधारण स्थिति में इसकी सम्भावना नहीं हो सकती। इसके समर्थन में पतञ्जलि ने यर्वाणः, तर्वाणः नाम के ऋषियों से सम्बद्ध कथा को प्रस्तुत करते हुए कहा है कि सामान्य जीवन में अपशब्दों का प्रयोग करते हुए भी वे याज्ञकर्म में अपशब्दों का प्रयोग नहीं करते थे, अतः वे अपुण्य से युक्त नहीं हुए। असुरों ने याज्ञकर्म में भी अपभाषण किया, अतः वे पराभूत हुए।

मूलम्—अथ व्याकरणमित्यस्य शब्दस्य कः पदार्थः ?

सूत्रम् ।

*सूत्रे व्याकरणे षष्ठ्यर्थोऽनुपपन्नः—

सूत्रे व्याकरणे षष्ठ्यर्थो नोपपद्यते—'व्याकरणस्य सूत्रम्' इति। किं हि तदन्यत्सूत्राद् व्याकरणम्, यस्यादः सूत्रं स्यात् ।

*शब्दाप्रतिपत्तिः

शब्दानां चाप्रतिपत्तिः प्राप्नोति—व्याकरणाच्छब्दान्प्रतिपद्यामहे इति । नहि सूत्रत एव शब्दान्प्रतिपद्यन्ते ।

किं तर्हि ?

व्याख्यानतश्च ।

ननु च तदेव सूत्रं विगृहीतं व्याख्यानं भवति ।

न केवलानि चर्चापदानि व्याख्यानम्—'वृद्धिः, आत्, ऐज्' इति,

किं तर्हि

उदाहरणं प्रत्युदाहरणं वाक्याध्याहार इत्येतत्समुदितं व्याख्यानं भवति ।

प्रदीपः—अथेति। उक्तमिदं न चान्तरेण व्याकरणमित्यादि। तत्र पक्षद्वयेऽपि दोषदर्शनात् पदार्थप्रश्नः। षष्ठ्यर्थ इति। द्वाभ्यामपि शब्दाभ्यामष्टाध्याय्याः प्रतिपादनाद्व्यतिरेकाभावः। सामान्यविशेषशब्दतया तु द्वयोः सहप्रयोगो न विरुध्यते, यदा त्वष्टाध्याय्येकदेशः सूत्रशब्देनोच्यते, तदा षष्ठ्यर्थोऽप्युपपद्यते। शब्दाप्रतिपत्तिरिति। न हि व्याख्यानरहितसूत्रमात्रश्रवणाच्छब्दाः प्रतीयन्ते। समुदितमिति। समुदायादेवार्थावसायोत्पादादित्यर्थः।

अनुवाद—अब 'व्याकरण' इस शब्द का क्या अर्थ है ?

सूत्र।

"सूत्र को व्याकरण मानने पर षष्ठ्यर्थ अनुपपन्न"—

सूत्र को व्याकरण मानने पर षष्ठी (विभक्ति) का अर्थ उपपन्न नहीं हो सकता—'व्याकरण का सूत्र।' क्या सूत्र से अतिरिक्त व्याकरण कुछ (तत्त्व) है जिसका वह सूत्र होगा।

"शब्दों की अप्रतिपत्ति"—

और (सूत्र को ही व्याकरण मानने पर) शब्दों का प्रतिपादन भी नहीं हो सकेगा—(हम) व्याकरण से शब्दों का प्रतिपादन करते हैं। (और) सूत्रों से ही शब्दों का प्रतिपादन नहीं हो सकता।

फिर किससे ?

व्याख्यान से भी।

वही सूत्र तो विगृहीत होकर व्याख्यान होता है।

केवल चर्चित पद—वृद्धि, आत्, ऐच् आदि ही व्याख्यान नहीं होते।

तो क्या (व्याख्यान होता है) ?

उदाहरण, प्रत्युदाहरण, वाक्य का अध्याहार, यह सब मिलकर व्याख्यान होता है।

उषा—'तस्मादध्येयं व्याकरणम्" इत्यादि शास्त्र के द्वारा व्याकरणाध्ययन की अनिवार्यता का प्रतिपादन किया गया है। अतः अध्ययन के निमित्त व्याकरण शब्द के अर्थ तथा विस्तार सीमाओं को स्पष्ट करना आवश्यक हो जाता है। यहाँ इस प्रसङ्ग में सर्वप्रथम सूत्र और शब्द को व्याकरण पद के वाच्य के रूप में रखकर विचार किया गया है।

परन्तु सूत्र में व्याकरणत्व स्वीकार करने पर दो आपत्तियाँ हो सकती हैं—

(१) षष्ठी विभक्ति का प्रयोग वहीं उपपन्न हो सकता है जहाँ दो पृथक् वस्तुओं का निर्देश करना हो, क्योंकि यह विभक्ति दो पदार्थों का सम्बन्ध बताने में ही प्रयुक्त होती है। परन्तु व्यवहार में सूत्र और व्याकरण इन दोनों ही पदों के

द्वारा अष्टाध्यायी का प्रतिपादन किया जाता है। अतः सूत्र और व्याकरण में अभिन्नता होने के कारण भेदसम्बन्धबोधिका षष्ठी विभक्ति का प्रयोग नहीं हो सकता। यद्यपि सूत्र शब्द से सूत्र सामान्य तथा व्याकरण शब्द से अष्टाध्यायी का ग्रहण होने पर इस प्रयोग में कोई विरोध प्रतीत नहीं होता। और भी जब अष्टाध्यायी के एक भाग को सूत्र शब्द के द्वारा अभिहित किया जाये तो "राहोः शिरः" इत्यादि प्रयोगों के समान इसकी सङ्गति दिखाई जा सकती है।

(२) इसी पक्ष में दूसरी आपत्ति यह है कि केवलमात्र सूत्र को ही व्याकरण मानने पर शब्दों का सम्यक् प्रतिपादन नहीं हो सकता, प्रत्युत उदाहरण, प्रत्युदाहरण तथा सूत्रान्तरों में श्रूयमाण पदों का अध्याहार कर सूत्र के सम्पूर्ण अर्थ को स्पष्ट करके ही शब्दप्रतिपत्ति सम्भव हो पाती है।

मूलम्—एवं तर्हि शब्दः।

*शब्दे ल्युडर्थः—

यदि शब्दो व्याकरणं ल्युडर्थो नोपपद्यते—व्याक्रियन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्। नहि शब्देन किञ्चिद् व्याक्रियते।

केन तर्हि ?

सूत्रेण।

*भवे च तद्धितः—

भवे च तद्धितो नोपपद्यते—'व्याकरणे भवो योगो वैयाकरणः' इति। नहि शब्दे भवो योगः।

क्व तर्हि ?

सूत्रे।

*प्रोक्तादयश्च तद्धिताः—

प्रोक्तादयश्च तद्धिता नोपपद्यन्ते। पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्। आपिशलं काशकृत्स्नमिति। न हि पाणिनिना शब्दाः प्रोक्ताः।

किं तर्हि ?

सूत्रम्।

प्रदीपः—शब्द इति। करणे ल्युड् विधीयते। शब्दश्च व्याक्रियमाणत्वात्कर्म न तु करणमिति भावः। भवे चेति। शब्देऽप्यन्वाख्यापकत्वेन भवो योग इति चेन्मीमांसादियोगस्यापि शब्दं प्रति विचारकत्वाद्वैयाकरणत्वप्रसङ्गः।

अनुवाद—तो फिर शब्द (व्याकरण है)।

"शब्द में ल्युट् का अर्थ"—

यदि शब्द को व्याकरण माना जाये तो ल्युट् का अर्थ उपपन्न नहीं होता—

जिसके द्वारा शब्दों को व्याकृत किया जाता है, वह व्याकरण है। शब्द के द्वारा कुछ भी व्याकृत नहीं किया जाता।

तो फिर किससे ?

सूत्र से।

"भव अर्थ में तद्धित"—

"तत्र भवः" इस अर्थ में तद्धित का प्रयोग भी उपपन्न नहीं होता— "व्याकरण में होने वाला योग वैयाकरण है।" शब्द में योग नहीं होता।

तो कहाँ (होता हैं) ?

सूत्र में।

"और प्रोक्तादि में तद्धित"—

"तेन प्रोक्तम्" इस अर्थ में तद्धित प्रत्यय उपपन्न नहीं हो सकते। पाणिनि के द्वारा प्रोक्त पाणिनीय है। (इसी प्रकार से) आपिशल और काशकृत्स्न (शब्द भी सिद्ध होते हैं)। पाणिनि ने शब्दों को नहीं कहा।

तो क्या (कहा है) ?

सूत्र।

उषा—सूत्र में व्याकरणत्व का निरास करके सम्प्रति शब्द में व्याकरणत्व स्वीकार करने पर आक्षेप किया गया है। शब्द में व्याकरणत्व स्वीकार करने पर दो समस्यायें उत्पन्न होती हैं—

(१) ल्युट् प्रत्यय करण और अधिकरण में आता है। शब्द को व्याकरण मानने पर उसका अर्थ सङ्गत नहीं हो सकता। 'व्याकरण' शब्द 'वि' और 'आ' उपसर्ग पूर्वक √कृ से ल्युट् प्रत्यय करके निष्पन्न हुआ है। व्याकरण से शब्दों का प्रकृति प्रत्यय विभागादि किया जाता है, परन्तु यह विभाग शब्दों से नहीं, सूत्रों की सहायता से ही निष्पन्न होता है।

(२) "तत्र भवः" और "तेन प्रोक्तम्" से होने वाले तद्धित प्रत्ययों का अर्थ भी इससे उपपन्न नहीं हो पाता। व्याकरण में होने वाला योग वैयाकरण कहा जाता है, परन्तु यह योग शब्द से नहीं, सूत्र से होता है। इसी प्रकार "तेन प्रोक्तम्" से पाणिनि शब्द से तद्धित अण् प्रत्यय करने पर पाणिनीय शब्द सिद्ध होता है। परन्तु पाणिनि ने शब्दों का आख्यान नहीं किया प्रत्युत उत्सर्ग और अपवाद रीति से सूत्रों का ही अन्वाख्यान किया है। अतः शब्द को व्याकरण का वाचक नहीं कहा जा सकता।

मूलम्—किमर्थमिदमुभयमुच्यते—"भवे," "प्रोक्तादयश्च तद्धिताः" इति। न "प्रोक्तादयश्च तद्धिताः" इत्येव भवेऽपि तद्धितश्चोदितः स्यात् ?

पुरस्तादिदमाचार्येण दृष्टम् "भवे च तद्धितः" इति, तत्पठितम्। तत उत्तरकालमिदं दृष्टम् 'प्रोक्तादयश्च तद्धितः" इति, तदपि पठितम्। न चेदानीमाचार्याः सूत्राणि कृत्वा निवर्तयन्ति।

प्रदीपः—न चेदानीमिति। लक्षणप्रपञ्चाभ्यां मूलसूत्रवद्वार्त्तिकानामुपपत्त्या दोषाभावः।

अनुवाद—"भवे च तद्धितः" और "प्रोक्तादयश्च तद्धिताः" ये दोनों किस लिए कहे गये हैं। क्या "प्रोक्तादयश्च तद्धिताः" इतना कहने से ही भव अर्थ में भी तद्धित का आक्षेप नहीं हो जाता?

पहले आचार्य ने "भवे च तद्धितः" इस सूत्र का दर्शन किया और उसे पढ़ दिया। तदनन्तर "प्रोक्तादयश्च तद्धिताः" इसका (दर्शन किया) और उसे पढ़ दिया। अब आचार्य सूत्रों को (एक बार) पढ़कर (उन्हें) लौटाते नहीं।

उषा—प्रस्तुत अवतरण भाष्यकार की सूत्रकार के प्रति श्रद्धातिशय का द्योतक है। आचार्य लोग एक बार सूत्र का निर्माण कर फिर उसका प्रत्यावर्त्तन नहीं करते। इस सन्दर्भ में यद्यपि प्रोक्तादि से तद्धित प्रत्यय कहने पर "तत्र भवः" इस अर्थ का भी उसमें ही समावेश हो जाता है, अतः इस सूत्र को पृथक् रूप से पढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं है तथापि आचार्य पाणिनि ने पहले "तत्र भवः" सूत्र का दर्शन किया, उसके अनन्तर "तेन प्रोक्तम्" सूत्र उनके दृष्टिपथ में अवतीर्ण हुआ। अतः अब पूर्वदृष्ट सूत्र का प्रत्यावर्त्तन आचार्य ने नहीं किया, फलतः ये दोनों ही सूत्र अष्टाध्यायी का अङ्ग बन गये।

मूलम्—अयं तावददोषः—यदुच्यते "शब्दे ल्युडर्थः" इति। न केवलं करणाधिकरणयोरेव ल्युड् विधीयते।

किं तर्हि?

अन्येष्वपि कारकेषु—"कृत्यल्युटो बहुलम्" इति। तद्यथा प्रस्कन्दनम्, प्रपतनमिति।

अथवा शब्दैरपि शब्दा व्याक्रियन्ते। तद्यथा गौरित्युक्ते सर्वे सन्देहा निवर्तन्ते, नाश्वो न गर्दभ इति।

अयं तर्हि दोषः—"भवे," "प्रोक्तादयश्च तद्धिता" इति।

प्रदीपः—प्रस्कन्दनमिति। यद्यप्ययं भीमादिस्तथापि कृत्यल्युटो बहुलमित्यस्यैव भीमादयोऽपादान इत्ययं प्रपञ्च इति भावः। गौरित्युक्त इति। सास्नादिमति यदा कञ्चित्प्रति 'अयं गौः' इत्युच्यते तदा तत्र वाचकान्तराणां निवृत्तिः कृता भवति एवमेकस्मिन्नुदाहरणे उपन्यस्ते सर्वाणि तत्सदृशानि शब्दान्तराणि प्रतीयन्ते।

अनुवाद—यह कोई दोष नहीं है, जो कहा है—"शब्द (को व्याकरण मानने में) ल्युट् का अर्थ (उपपन्न नहीं होता)। केवल करण और अधिकरण में ही ल्युट् का विधान नहीं है।

तो क्या (नियम है) ?

दूसरे (कारकों) में भी कृत्य और ल्युट् होते हैं। जैसे कि प्रस्कन्दनम्, प्रपतनम् इत्यादि (में ल्युट् है)।

पुनश्च शब्दों के द्वारा भी शब्दों का व्याकरण होता है। जैसे कि 'गौः' इस शब्द के कहने पर सब सन्देह निवृत्त हो जाते हैं कि यह अश्व अथवा गर्दभ नहीं है।

भव अर्थ और प्रोक्तादि अर्थ में (यह) अवश्य दोष है।

उषा—शब्द के व्याकरणत्व पर इस अवतरण में और समीक्षात्मक विचार किया गया है। इस पक्ष पर जिन दोषों की उद्भावना पहले की गई है, उनमें सर्व प्रथम यह है कि करणाधिकरण अर्थ में आने वाला ल्युट् प्रत्यय शब्द में व्याकरणत्व मानने पर उपपन्न नहीं हो सकता। परन्तु "कृत्यल्युटो बहुलम्" यह सूत्र करणाधिकरण के अतिरिक्त अन्य अर्थों में भी ल्युट् प्रत्यय का विधान करता है। अत एव प्रपतन, प्रस्कन्दन आदि रूप उपपन्न होते हैं। अपि च, जो केवल सूत्रों से शब्दों के व्याख्यान की बात कही गई थी, वह भी उचित नहीं है। लोकव्यवहार में शब्दों से ही शब्दों का व्याख्यान देखा जाता है। 'गो' शब्द का उच्चारण करने पर केवल सास्नादिमत् पदार्थ का ही बोध होता है, अश्व, गर्दभ आदि सभी की निवृत्ति हो जाती है। इसी प्रकार से एक उदाहरण का उपन्यास करने से उसके सदृश समस्त शब्दों की प्रतीति हो जाती है। इसी पक्ष में यदि व्याकरण की निरुक्ति "व्याक्रियन्ते विभज्यन्तेऽपशब्दा येनेति" इस प्रकार से की जाये तो 'गो' शब्द के उच्चारण से ज्ञात हो जाता है कि गावी, गोणी आदि अपशब्द हैं। यह शब्द के द्वारा ही शब्दों का व्याख्यान है, अतः यह तर्क समीचीन नहीं।

हाँ, भव और प्रोक्तादि अर्थों में तद्धित प्रत्ययों की अनुपपत्ति की बात अवश्य उचित है, अतः इस दृष्टि से शब्द को व्याकरण मानना अनुचित ठहरता है।

मूलम्—एवं तर्हि

* लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्—

लक्ष्यं च लक्षणं चैतत्समुदितं व्याकरणं भवति।

किं पुनर्लक्ष्यम्, किं वा लक्षणम् ?

शब्दो लक्ष्यः, सूत्रं लक्षणम्।

एवमप्ययं दोषः --समुदाये व्याकरणशब्दः प्रवृत्तोऽवयवे नोपपद्यते । सूत्राणि चाप्यधीयान इष्यते — वैयाकरण इति ।

नैष दोषः । समुदायेषु हि शब्दाः प्रवृत्ता अवयवेष्वपि वर्त्तन्ते । तद्यथा पूर्वे उत्तरे पञ्चालाः, तैलं भुक्तं, घृतं भुक्तं, शुक्लो नीलः कपिलः कृष्ण इति । एवमयं समुदाये व्याकरणशब्दः प्रवृत्तोऽवयवेष्वपि वर्तते ।

प्रदीपः—पूर्वे पञ्चाला इति । जनपदान्तरनिवृत्तिविवक्षायामेकदेशेऽपि समुदायरूपारोपात्प्रयोगः । तैलमिति । यदौषधसंस्कृता घृततैलमात्रा भवति तदेदमुदाहरणम् । आकृतिवाचित्वे तु घृततैलशब्दयोः संस्थानप्रमाणनिरपेक्षा सर्वत्र मुख्या वृत्तिः । शुक्ल इति । अशुक्लेऽप्यवयवेऽवयवान्तरस्य शौक्ल्यात्समुदायस्य शुक्लत्वे सत्या (तस्या) रोपात्प्रयोगः ।

अनुवाद—तो फिर—

"लक्ष्य और लक्षण व्याकरण हैं"—

लक्ष्य और लक्षण ये दोनों मिलकर व्याकरण होते हैं ।

तो फिर लक्ष्य क्या है और लक्षण क्या है ?

शब्द लक्ष्य है, सूत्र लक्षण है ।

ऐसा होने पर भी यह दोष है—समुदाय में प्रवृत्त व्याकरण शब्द अवयव में उपपन्न नहीं हो सकता । सूत्रों का अध्ययन करने वाला वैयाकरण (रूप में) ही इष्ट होता है ।

यह दोष नहीं है । क्योंकि समुदायों में प्रवृत्त शब्द अवयवों में भी प्रयुक्त होते हैं । जैसे कि पूर्व पञ्चाल, उत्तर पञ्चाल, (औषध आदि के रूप में थोड़ा सा सेवन करके ही) तेल खाया, घी खाया (आदि प्रयोग), (वस्त्र के एक भाग के कारण) शुक्ल, नील, कपिल, कृष्ण आदि । इसी प्रकार समुदाय में प्रवृत्त व्याकरण शब्द (उसके) अवयव में भी प्रयुक्त होता है ।

उषा—सूत्र और शब्द दोनों में ही व्याकरणत्व का निरास करके सम्प्रति सिद्धान्त के रूप में इन दोनों को युगपद् व्याकरण संज्ञा से अभिहित किया गया है । व्याकरण का लक्ष्य शब्द है, सूत्रों के द्वारा शब्दों की ही प्रतिपत्ति होती है तथा सूत्र लक्षण है । लक्ष्य और लक्षण अर्थात् शब्द और सूत्र इन दोनों का समुचित नाम ही व्याकरण है ।

समुदाय के अर्थ में प्रयुक्त होने वाले शब्द अवयव में भी प्रयुक्त हो जाते हैं । जिस प्रकार से वन के एक भाग के पुष्पित होने पर भी "पुष्पितं वनम्" तथा पट के एक भाग के शुक्ल होने पर भी "शुक्लः पटः" आदि रूप उपपन्न होते हैं उसी प्रकार से लक्ष्य और लक्षण अथवा शब्द और सूत्र रूप व्याकरण के एक भाग, अर्थात् सूत्रों में अध्ययनरत व्यक्ति को भी वैयाकरण कह दिया जाता है । "पूर्वे पाञ्चालाः" "तैलं भुक्तम्" आदि रूप भी इसी प्रकार उपपन्न होते हैं ।

मूलम् - अथवा पुनरस्तु सूत्रम् ।

ननु चोक्तं "सूत्रे व्याकरणे षष्ठ्यर्थोऽनुपपन्न" इति ।

नैष दोषः । व्यपदेशिवद्भावेन भविष्यति ।

यदप्युच्यते "शब्दाप्रतिपत्तिः" नहि सूत्रत एव शब्दान्प्रतिपद्यन्ते ।

किं तर्हि ?

व्याख्यानतश्च ।

परिहृतमेतत्—तदेव सूत्रं विगृहीतं व्याख्यानं भवति ।

ननु चोक्तं—न केवलानि चर्चापदानि व्याख्यानम्—वृद्धिः, आत्, ऐच् इति ।

किं तर्हि ?

"उदाहरणं प्रत्युदाहरणं वाक्याध्याहार इत्येतत्समुदितं व्याख्यानं भवति इति ।

अविजानत एतदेवं भवति । सूत्रत एव हि शब्दान् प्रतिपद्यन्ते । आतश्च सूत्रत एव । यो ह्युत्सूत्रं कथयेन्नादो गृह्येत ।

प्रदीपः – व्यपदेशिवद्भावेनेति । यथा राहोः शिर इत्येकस्मिन्नपि वस्तुनि शब्दार्थभेदाद्भेदव्यवहारः । एवमिहापि व्याकरणशब्देन शास्त्रस्य व्याकृतिक्रियायां करणरूपत्वमुच्यते । सूत्रशब्देन तु समुदायरूपतेति भेदव्यवहार उपपद्यते । सूत्रत एवेति । पदच्छेदादिभिः सूत्रार्थस्यैवाभिव्यञ्जनात् । आत इति निपातः । अतश्च हेतोरित्यर्थः । नाद इति । नैतदित्यर्थः । अथवा नादोऽर्थरहितत्वाद् घोषमात्रमेवेत्यर्थः ।

अनुवाद—अथवा फिर (व्याकरण पद का अर्थ) सूत्र ही हो ।

अभी जो कहा था सूत्र को व्याकरण मानने में षष्ठ्यर्थ अनुपपन्न हो जायेगा ।

यह दोष नहीं है । व्यपदेशिवद् भाव (की कल्पना) से (इसका समाधान) हो जायेगा ।

जो यह कहा गया है कि शब्दों का प्रतिपादन नहीं हो सकेगा । (केवल) सूत्र से ही शब्दों का प्रतिपादन नहीं हो सकता ।

फिर किससे (होता है) ?

व्याख्यान से भी ।

इसका परिहार कर दिया था कि वही सूत्र विगृहीत होकर व्याख्यान होता है ।

और यह जो कहा गया था कि केवल, वृद्धिः, आत् और ऐच् (आदि) चर्चित पद ही व्याख्यान नहीं ।

तो (फिर) क्या है ?

उदाहरण, प्रत्युदाहरण, वाक्याध्याहार यह सब मिलकर व्याख्यान होता है। न जानने वाले के लिए यह ऐसा होता है। सूत्र से ही शब्दों का प्रतिपादन हो जाता है इस हेतु से भी सूत्र से ही (शब्दों का प्रतिपादन होता है)। जो सूत्रों का अतिक्रमण करके कहे वह ग्रहण नहीं किया जाता।

उषा—सूत्र रूप प्रथम पक्ष का पुनरभ्युपगम करते हुए प्रस्तुत अवतरण में उससे सम्बद्ध भ्रान्तियों का निराकरण किया गया है। सूत्र को व्याकरण मानने के विरोध में जो सर्वप्रथम षष्ठ्यर्थ के अनुपपन्न होने की बात कही गई थी, वह उचित नहीं है। राहु और राहु के शिर में तात्त्विक भेद न होने पर भी जिस प्रकार से व्यपदेशिवद्भाव से सम्बन्धविवक्षा आरोपित कर ली जाती है उसी प्रकार से सूत्र और व्याकरण में भी सम्बन्ध की कल्पना करके षष्ठी विभक्ति का उपपादन किया जा सकता है।

और जो सूत्र के अतिरिक्त उदाहरण, प्रत्युदाहरण आदि रूप व्याख्यान से युक्त होने पर ही शब्द-प्रतिपत्ति की बात कही गई थी, वह भी उपयुक्त नहीं है, क्योंकि यह सब प्रपञ्च व्याकरणज्ञान से हीन व्यक्ति के लिए ही है। व्याकरणज्ञ केवल चर्चित पदों से सूत्रार्थ का सम्यक् अवबोध कर सकता है।

मूलम्—अथ किमर्थो वर्णानामुपदेशः ?

* वृत्तिसमवायार्थ उपदेशः—

वृत्तिसमवायार्थो वर्णानामुपदेशः—

किमिद वृत्तिसमवायार्थ इति ?

वृत्तये समवायो वृत्तिसमवायः। वृत्त्यर्थो वा समवायो वृत्तिसमवायः। वृत्तिप्रयोजनो वा समवायो वृत्तिसमवायः।

का पुनर्वृत्तिः ?

शास्त्रप्रवृत्तिः।

अथ कः समवायः ?

वर्णानामानुपूर्व्येण सन्निवेशः।

अथ क उपदेशः ?

उच्चारणम्।

कुत एतत् ?

दिशिरुच्चारणक्रियः। उच्चार्य हि वर्णानाह—उपदिष्टा इमे वर्णा इति।

* अनुबन्धकरणार्थश्च—

अनुबन्धकरणार्थश्च वर्णानामुपदेशः—अनुबन्धानासंक्ष्यामीति। न ह्यनुपदिश्य वर्णाननुबन्धाः शक्या आसङ्क्तुम्। स एष वर्णानामुपदेशो वृत्तिसमवायार्थश्चानुबन्धकरणार्थश्च। वृत्तिसमवायश्चानुबन्धकरणं च प्रत्याहारो वृत्त्यर्थः।

*इष्टबुद्ध्यर्थश्च—

इष्टबुद्ध्यर्थश्च वर्णानामुपदेशः—'इष्टान्वर्णान्भोत्स्यामहे' इति । न ह्यनुपदिश्य वर्णानिष्टा वर्णाः शक्या विज्ञातुम् ।

प्रदीपः—वृत्तिसमवायार्थं इति । लाघवेन शास्त्रप्रवृत्त्यर्थं इत्यर्थः । धर्मनियमवत्समासः । वृत्त्यर्थं इति । शास्त्रप्रवृत्तिप्रत्यासन्नत्वं समवायस्य दर्शयति । इग्यण इत्यादौ हि यथासंख्यशास्त्रं वर्णसन्निवेशमात्रादेवावतिष्ठते । वृत्तिप्रयोजन इति । पारम्पर्येण शास्त्रप्रवृत्तावस्याङ्गत्वम् । सति हि समवाये इत्संज्ञा । तत आदिरन्त्येनेति [प्रत्याहार] । ततो ङ्लोप इत्यादि शास्त्रप्रवृत्तिः । प्रत्याहारार्थमिति । प्रत्याहारशब्देनाणादिकाः संज्ञा उच्यन्ते । इष्टबुद्ध्यर्थश्चेति । सति ह्युपदेशे कलादिदोषरहिता ये वर्णा निर्दिष्टास्तथैव प्रयोक्तव्या इत्युक्तं भवति ।

अनुवाद—अब वर्णों का उपदेश किसलिए है ?

"वृत्तिसमवाय के लिये उपदेश है"—

वर्णों का उपदेश वृत्तिसमवाय के लिए है ।

यह वृत्तिसमवाय क्या है ?

वृत्ति के लिए समबाय वृत्तिसमवाय है । वृत्त्यर्थं (वृत्ति का हेतु) समवाय वृत्तिसमवाय है । वृत्ति का प्रयोजक समवाय वृत्तिसमवाय है ।

फिर वृत्ति क्या है ?

शास्त्र में प्रवृत्ति (वृत्ति है) ।

अब समवाय क्या है ?

वर्णों का पूर्वापरसन्निवेश ।

अब उपदेश क्या है ?

उच्चारण ।

यह कहाँ से ?

दिश् धातु उच्चारणार्थक है । (वर्णों का) उच्चारण करते ही (आचार्य) कहता है—'इन वर्णों का उपदेश कर दिया गया है ।'

"अनुबन्ध करने के लिए"—

अनुबन्ध करने के लिए भी वर्णों का उपदेश है । (आचार्य की प्रतिज्ञा है कि) मैं अनुबन्धों को लगाऊँगा । वर्णों का उपदेश किये बिना अनुबन्धों को नहीं लगाया जा सकता । यह वर्णों का उपदेश वृत्तिसमवाय के लिए है और अनुबन्ध करने के लिए भी । वृत्तिसमवाय और अनुबन्धकरण प्रत्याहार के लिए है । प्रत्याहार (शास्त्र की) प्रवृत्ति के लिए है ।

"इष्ट बोध के लिए"—

वर्णों के इष्ट बोध के लिए भी वर्णों का उपदेश है ।—"हम इष्ट वर्णों का बोध करेंगे ।" वर्णों का उपदेश किये बिना इष्ट वर्णों का ज्ञान नहीं हो सकता ।

उषा—व्याकरण का उद्देश्य वर्णों के साधुत्व का प्रतिपादन करना है, परन्तु वर्णोपदेश से किसी भी शब्द का साधुत्व प्रतिपादित नहीं होता । अत एव माहेश्वर वर्णसमाम्नाय का उपदेश किसलिए किया गया यह प्रश्न उपस्थापित किया गया है ।

"वृत्तये समवायः" से अभिप्राय है—"लाघवेन शास्त्रप्रवृत्तये," अर्थात् लाघव से शास्त्र में प्रवृत्ति हो सके, यही वर्ण समाम्नाय का प्रयोजन है । वर्ण-समाम्नाय करने पर अच् आदि संज्ञाओं की प्राप्ति हो सकेगी । ततश्च लाघवेन शब्दानुशासन ।

'इ, उ, ऋ, लृ के स्थान पर य्, व्, र्, ल् हों" ऐसा विस्तृत व्याख्यान करने के स्थान पर "इको यणचि" इतना मात्र कह देने से ही शास्त्र-प्रवृत्ति हो सकती है । अत एव द्वितीय विग्रह उपस्थित किया गया है—'वृत्त्यर्थो वा समवायः, वृत्ति-समवायः ।' "इग्यणः सम्प्रसारणम्" इत्यादि स्थलों में यथासंख्य प्रतीति भी सुलभ हो पायेगी ।

'ण्' आदि की इत्संज्ञा करके प्रत्याहार सिद्धि की जाती है । यह भी लाघव से शास्त्रप्रवृत्ति के लिए उपयोगी है । "वृत्तिप्रयोजनो वा समवायः" का यही अभिप्राय है ।

वर्णोपदेश का दूसरा प्रयोजन अनुबन्ध लगाना है । अनुबन्धों को लगाकर ही वर्णसमुदाय का उपपादन किया जा सकता है ।

इस प्रकार से वर्णोपदेश के दो प्रयोजन हुए—१. वृत्तिसमवाय और २. अनुबन्धकरण । वृत्तिसमवाय और अनुबन्धकरण का प्रयोजन प्रत्याहारों का निर्माण करना है । "प्रत्याह्रियन्ते वर्णा अस्मिन्" इस व्युत्पत्ति से प्रत्याहार शब्द अन् आदि का वाचक है । अणादि की सिद्धि से लाघवेन शास्त्रप्रवृत्ति सम्भव हो पाती है । अतः परम्परया वर्णों का उपदेश शास्त्रप्रवृत्ति के लिए ही है ।

वर्णोपदेश का एक अन्य प्रयोजन इष्ट वर्णों का बोध कराना भी है । स्पष्ट उपदेश कर देने पर कलादि दोषों से युक्त वर्णों का ग्रहण नहीं होगा, क्योंकि उच्चारण करके इनका सही स्वरूप बतला दिया गया है ।

शास्त्रप्रवृत्ति में सहायकभूत मात्र होने के कारण इसका शास्त्र से बहिर्भूतत्व भी सूचित होता है । अत एव "वृद्धिरादैच्" सूत्र की व्याख्या में आदि में पढ़े गये 'वृद्धि' शब्द का प्रयोजन मङ्गलार्थक सिद्ध हो सकेगा ।

मूलम्—* इष्टबुद्ध्यर्थश्चेति चेदुदात्तानुदात्तस्वरितानुनासिकदीर्घप्लुतानामप्युपदेशः—

इष्टसिद्ध्यर्थश्चेति चेदुदात्तानुदात्तस्वरितानुनासिकदीर्घप्लुतानामप्युपदेशः कर्तव्यः । एवं गुणा अपि हि वर्णा इष्यन्ते ।

* आकृत्युपदेशात्सिद्धम्—

अवर्णाकृतिरुपदिष्टा सर्वमवर्णकुलं ग्रहीष्यति । तथेवर्णाकृतिः । तथोवर्णाकृतिः ।

प्रदीपः—एकश्रुत्या हि सूत्राणां पाठात्सर्वेषामुदात्तादीनामुपदेशः कर्त्तव्य इत्याह—इष्टबुद्ध्यर्थश्चेति चेदिति । आकृत्युपदेशादिति । उपात्तोऽपि विशेषो नान्तरीयकत्वाज्जातिप्राधान्यविवक्षायां न विवक्ष्यत इत्यर्थः ।

अनुवाद—"और इष्टबुद्ध्यर्थं होने पर उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, अनुनासिक, दीर्घ और प्लुतों का भी उपदेश"—

(वर्णों के) इष्ट बोध (को यदि वर्णोपदेश का प्रयोजन माना जाये तो) उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, अनुनासिक, दीर्घ और प्लुतों का भी उपदेश करना चाहिए । क्योंकि इस प्रकार के भी वर्ण इष्ट हैं ।

"जातिपरक उपदेश से सिद्ध"—

'अ' वर्ण की आकृति का उपदेश सारे 'अ' वर्णों (उदात्त, अनुदात्त आदि) का ग्रहण करायेगा । इसी प्रकार से इत्व जाति । इसी प्रकार से उत्व जाति ।

उषा—प्रस्तुत अवतरण में वर्णोपदेश के 'इष्टबुद्ध्यर्थ' प्रयोजन पर आक्षेप किया गया है । पूर्वपक्षी का कहना है कि वर्णोपदेश में केवल ह्रस्व अचों का ही उपदेश किया गया है । परन्तु शास्त्रीय प्रक्रिया में इसके उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, दीर्घ, प्लुत, अनुनासिक आदि सभी रूप आवश्यक हैं । अतः इनका भी वर्णोपदेश में उपदेश किया जाना चाहिए था ।

परन्तु सिद्धान्ती का मत है कि वर्ण की आकृति अपने से सम्बद्ध अन्य सभी रूपों का ग्रहण करवायेगी । अवर्ण का उच्चारण उदात्तानुदात्तादि सभी रूपों का प्रतिनिधित्व करता है । अत एव जहाँ वर्ण के अन्य रूपों का ग्रहण इष्ट नहीं होता, ऐसे स्थलों के लिए "तपरस्तत्कालस्य" इत्यादि सूत्र बनाये गये हैं ।

मूलम्—आकृत्युपदेशात्सिद्धमिति चेत्संवृतादीनां प्रतिषेधः—

आकृत्युपदेशात्सिद्धमिति चेत्संवृतादीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः ।

के पुनः संवृतादयः ?

संवृतः कलो ध्मात एणीकृतोऽम्बूकृतोऽर्द्धको ग्रस्तो निरस्तः प्रगीत उपगीतः क्ष्विण्णो रोमश इति । अपर आह—

ग्रस्तं निरस्तमवलम्बितं निर्हतमम्बूकृतं ध्मातमथो विकम्पितम् ।

सन्दष्टमेणीकृतमर्धकं द्रुतं विकीर्णमेताः स्वरदोषभावनाः ॥ इति ।

अतोऽन्ये व्यञ्जनदोषाः ।

नैष दोषः ।

* गर्गादिबिदादिपाठात्संवृतादीनां प्रतिषेधः—

गर्गादिबिदादिपाठात्संवृतादीनां निवृत्तिर्भविष्यति ।

प्रदीपः—संवृतादीनामिति । आकारादीनां संवृतत्वं दोषः । न त्वकारस्य संवृतगुणत्वात् । तत्र सन्ध्यक्षरेषु विवृततमेषूच्चार्येषु संवृतत्वं दोषः । कलः—स्थानान्तरनिष्पन्नः काकलिकत्वेन प्रसिद्धः । ध्मातः—श्वासभूयिष्ठतया ह्रस्वोऽपि दीर्घ इव लक्ष्यते । एणीकृतः—अविशिष्टः किमयमोकारोऽथौकार इति यत्र सन्देहः । अम्बूकृतः—यो व्यक्तोऽप्यन्तर्मुखमिव श्रूयते । अर्धकः—दीर्घोऽपि ह्रस्व इव । ग्रस्तः—जिह्वामूले निगृहीतः, अव्यक्त इत्यपरे । निरस्तः—निष्ठुरः । प्रगीतः—सामवदुच्चारितः । उपगीतः—समीपवर्णान्तरगीत्यानुरक्तः । क्ष्विण्णः—कम्पमान इव । रोमशः—गम्भीरः । अवलम्बितः—वर्णान्तरसंभिन्नः । निर्हतः—रूक्षः । सन्दष्टः—वर्धित इव । विकीर्णः—वर्णान्तरे प्रसृतः, एकोऽप्यनेकनिर्भासीत्यपरे । स्वरदोषभावना इति । स्वरदोषगोत्राणि । अनन्ता हि दोषा अशक्तिप्रमादकृताः ।

अनुवाद— आकृत्युपदेश से ही सिद्धि हो तो संवृतादि का प्रतिषेध—

आकृत्युपदेश से ही यदि (इष्ट) सिद्धि हो सके तो संवृतादि (दोषों) का प्रतिषेध करना होगा ।

वे संवृतादि दोष कौन से हैं ?

संवृत, कल, ध्मात, एणीकृत, अम्बूकृत, अर्धक, ग्रस्त, निरस्त, प्रगीत, क्ष्विण्ण और रोमश इत्यादि ।

अन्य (व्यक्ति) के अनुसार (वे दोष निम्नलिखित हैं) —

"ग्रस्त, निरस्त, अवलम्बित, निर्हत, अम्बूकृत, ध्मात, विकम्पित, सन्दष्ट, एणीकृत, अर्धक, द्रुत और विकीर्ण, ये स्वर के दोष हैं ।" इसके अतिरिक्त व्यञ्जनों के दोष भी हैं ।

यह कोई दोष नहीं है ।

—गर्गादि बिदादि पाठ से संवृतादि का प्रतिषेध—

गर्गादि बिदादि (गण) पाठों से संवृत आदि (दोषों) की निवृत्ति हो जायेगी ।

उषा—अवर्ण और इवर्ण की आकृति यदि दीर्घ, प्लुत, अनुनासिक आदि सभी आकृति रूपों का ग्रहण करवा सकती है तो इससे संवृतादि दोषों का भी ग्रहण होने लगेगा । परन्तु दोषों में परिगणित होने के कारण शास्त्रीय मर्यादाओं में उनका ग्रहण नही किया जा सकता, अतः उनका प्रतिषेध करने के लिए अलग से

सूत्र बनाने पड़ेंगे। अतः आकृति रूप से उदात्तादि वर्णों का ग्रहण नहीं किया जा सकता।

प्रमुख संवृतादि दोष निम्नलिखित हैं—

संवृत—अकार के संवृत गुण वाला होने के कारण यह अन्य आकारादि स्वरों में दोष के रूप में परिगणित किया जाता है। इसके उच्चारण में मुख बन्द रहता है।

कल—स्वर का अपने स्थान से च्युत होकर स्थानान्तर से उच्चरित होना 'कल' कहलाता है। इसे काकली भी कहते हैं।

ध्मात—श्वासों की तीव्र गति के कारण जहाँ ह्रस्व भी दीर्घ के समान उच्चरित होना प्रतीत होता है।

एणीकृत—'ओ' और 'औ' में जहाँ अन्तर स्पष्ट नहीं हो पाता, इन दोनों का समान साधारण सा उच्चारण किया जाता है।

अम्बूकृत—व्यक्त होता हुआ भी जो स्पष्ट श्रुतिगोचर न हो, प्रत्युत मुख के अन्दर ही उच्चरित होता हुआ सा प्रतीत हो

अर्द्धक—जो स्वर दीर्घ होता हुआ भी शीघ्रता से उच्चरित होने के कारण ह्रस्व सा प्रतीत हो।

ग्रस्त—जो जिह्वामूल में ही गृहीत होकर रह जाये। अन्य शिक्षाविदों के अनुसार किसी भी अव्यक्त उच्चारण को ग्रस्त कह सकते हैं।

निरस्त—स्वर का कठोर और कर्कश उच्चारण निरस्त कहलाता है।

प्रगीत—गाकर उच्चारण किया गया स्वर।

उपगीत—समीपस्थित दूसरे वर्ण के गीत से अनुरक्त।

क्ष्विण्ण—कम्पमान स्वर ध्वनि।

रोमश—गम्भीर अथवा गहन।

अवलम्बित—वर्णान्तर के आश्रित हुआ-हुआ।

निर्हत—रूखा।

सन्दष्ट—बढ़ाकर उच्चारण किया हुआ स्वर।

द्रुत—शीघ्रता से उच्चरित।

विकीर्ण—दूसरे वर्ण से मिला हुआ अथवा एक होता हुआ भी जो स्वर अनेक रूप में प्रतिभासित हो।

ये सभी दोष स्वरों से सम्बद्ध हैं। इसके अतिरिक्त कुछ व्यञ्जन दोष भी हैं, जैसे मूर्धन्य 'ष' का 'ख' के रूप में उच्चारण, इत्यादि।

परन्तु सिद्धान्ती के अनुसार यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि इनकी निवृत्ति गर्गादि तथा विदादि गण पाठों से हो जाती है। क्योंकि आचार्य ने इन्हें शुद्ध ही

पढ़ा है, अतः यहाँ दोषों की शून्यता प्रतीत होती है। परन्तु इससे अन्य गार्ग्य आदि दोषों की निवृत्ति नहीं हो सकेगी। नागेश कैयट के इस विचार से सहमत नहीं। उनके अनुसार गर्गादि पाठ का प्रयोजन यञ् आदि प्रत्ययों से युक्त होकर गार्ग्य आदि शब्दों का साधुत्व प्रतिपादन करना है, कलादि दोषों की निवृत्ति इनसे नहीं हो सकती।

मूलम्—अस्त्यन्यद् गर्गादिबिदादिपाठे प्रयोजनम्।
किम्?
समुदायानां साधुत्वं यथा स्यादिति।
एवं तर्ह्यष्टादशधा भिन्नां निवृत्तकलादिकामवर्णस्य प्रत्यापत्तिं वक्ष्यामि।
सा तर्हि वक्तव्या।
* लिङ्गार्था तु प्रत्यापत्तिः—
लिङ्गार्था सा तर्हि भवति।
तर्त्तर्हि वक्तव्यम्।
यद्यप्येतदुच्यते, अथवैतर्हि अनेकमनुबन्धशतं नोच्चार्यमित्संज्ञा च न वक्तव्या, लोपश्च न वक्तव्यः। यदनुबन्धैः क्रियते तत्कलादिभिः करिष्यते।
सिध्यत्येवम्, अपाणिनीयं तु भवति।

प्रदीपः—अस्त्यन्यदिति। गर्ग इत्यादिनैव सन्निवेशेन गर्गादीनां साधुत्वं यथा स्याद् गार्ग्य इत्यादीनां मा भूत्। ततश्च तद्गतानामेवाकारादीनां दोषनिवृत्तिः कृता स्यात्, न तु समुदायान्तरस्थानाम्। यद्यपि प्रत्ययविध्यर्थो गर्गादीनां पाठस्तथापि प्रसङ्गात्समुदायसाधुत्वार्थोऽपि भवति। निवृत्तकलादिकामिति। अकारस्य संवृतत्वान्निवृत्तसंवृतत्वादिकामिति नोक्तम्। अकारस्य निदर्शनार्थत्वात्सर्ववर्णानां शास्त्रान्ते प्रत्यापत्तिरित्यर्थः। यदनुबन्धैरिति। यथा स्वरितत्वमधिकारार्थमेवमात्मनेपदाद्यर्थं कलादिकं प्रतिज्ञाय कलादात्मनेपदमित्यादि करिष्यते न त्वनुदात्तङित इत्यादि। ननु चानुबन्धाभावे कथमणादिकाः संज्ञा उपपद्यन्ते आदिरन्त्येनेत्यत्रादिः कलैः सहेत्युक्त्वा अ उ इत्यादिकाः संज्ञा करिष्यन्ते। स्वरसन्धिश्चासन्देहाय न करिष्यत इत्यदोषः।

अनुवाद—गर्गादि बिदादि पाठ का (तो) अन्य ही प्रयोजन है।
क्या?
जिससे (उन-उन) समुदायों का साधुत्व ज्ञान हो।
तो फिर कलादि दोष रहित, अठारह प्रकार से भिन्न अवर्ण आदि की (शास्त्र के अन्त में) प्रत्यापत्ति की जायेगी।
वह फिर कहनी होगी (अर्थात् गौरव दोष हो जायेगा)।
"लिङ्ग के लिए वह प्रत्यापत्ति"—

वह प्रत्यापत्ति लिङ्ग के लिए होगी।

तो वह कहनी होगी। (इससे गौरव होगा)।

यद्यपि यह कहनी होगी तथापि इससे अनेक अनुबन्धों को नहीं कहना होगा, इत्संज्ञा नहीं कहनी पड़ेगी, लोप नहीं बताना पड़ेगा। जो (कार्य) अनुबन्धों से किया जाता है वह कलादि दोषों से कर लिया जायेगा।

ऐसा किया तो जा सकता है, परन्तु यह अपाणिनीय होगा।

उद्या—पूर्वपक्षी सिद्धान्ती के इस समाधान से सहमत नहीं है कि गर्गादि बिदादि गणपाठों से संवृतादि दोषों की निवृत्ति हो जाती है। उसके अनुसार इन गणपाठों का प्रयोजन गर्ग आदि शब्दों से यञ् प्रत्यय करके निष्पन्न गार्ग्य आदि समुदायों के साधुत्व का प्रतिपादन है, अतः ये कलादि दोषों की निवृत्ति नहीं कर सकते।

सिद्धान्ती इसका समाधान करता हुआ कहता है कि शास्त्र के अन्त में "अ अ" सूत्र का निर्माण करके जिस प्रकार अवर्ण से इस दोष का निवारण किया गया है, उसी प्रकार से अन्य इ, उ आदि वर्णों के दोषों की भी निवृत्ति कर दी जायेगी। कैयट के अनुसार अवर्ण यहाँ निदर्शनभूत है, अर्थात् 'अ' के समान ही अन्य वर्णों का भी ग्रहण स्वयं कर लेना चाहिए। परन्तु नागेश के अनुसार इसका अर्थ यह है कि 'अ' की जिस प्रकार से दोषनिवृत्ति की गई है, उसी प्रकार से अन्य वर्णों की भी की जायेगी। परन्तु इससे गौरव दोष आ जायेगा, अतः पूर्वपक्षी इस समाधान को स्वीकार नहीं करता।

एक अन्य समाधान के रूप में पतञ्जलि ने एक नया प्रयोग करने का प्रयास किया है। उसका अभिप्राय यह है कि अब धातु आदि से जो अनुबन्ध लगाने पड़ते हैं, उनके स्थान पर कलादि को लिङ्ग रूप से समझा जा सकता है। अब जिस प्रकार से ङित् और अनुदात्तेत् की आत्मनेपद संज्ञा होती है, इसके स्थान पर कल' दोष वाली धातु की आत्मनेपद संज्ञा हो जायेगी। स्वरितेत् और ञित् के स्थान पर 'ध्मात' दोष से कार्य निष्पन्न किया जायेगा। इससे अनुबन्ध लगाने, उनकी इत्संज्ञा करने और उसका लोप करने की सारी शास्त्रीय प्रक्रिया की बचत हो जायेगी, अतः लाघव से शास्त्र प्रतिपादन भी हो सकेगा।

परन्तु इस प्रकार से शास्त्रप्रक्रिया के सिद्ध होने पर भी यह पद्धति अपाणिनीय हो जायेगी और अपाणिनीय समाधान को स्वीकार नहीं किया जा सकता। और फिर असाधु प्रतिपादन का दोष भी इससे शास्त्र में आ जायेगा।

अतः सिद्धान्ती का यह मत भी पूर्वपक्षी को अस्वीकार्य है।

मूलम्—यथान्यासमेवास्तु ।

ननु चोक्तम्—"आकृत्युपदेशात्सिद्धमिति चेत्संवृतादीनां प्रतिषेध इति ।"

परिहृतमेतत्—"गर्गादिबिदादिपाठात्संवृतादीनां निवृत्तिर्भविष्यतीति ।

ननु चान्यद् गर्गादिबिदादिपाठे प्रयोजनम् ।

किम् ?

समुदायानां साधुत्वं यथा स्यादिति ।

एवं तर्ह्युभयमनेन क्रियते—पाठश्चैव विशेष्यते, कलादयश्च निवर्त्यन्ते ।

कथं पुनरेकेन यत्नेनोभयं लभ्यम् ?

लभ्यमित्याह ।

कथम् ?

द्विगता अपि हेतवो भवन्ति । तद्यथा—आम्राश्च सिक्ताः पितरश्च प्रीणिता इति । तथा वाक्यानि द्विष्ठानि भवन्ति—श्वेतो धावति, अलम्बुसानां यातेति ।

प्रदीपः—उभयमिति । यथाभूता गर्गादिस्था अकारादयस्तथाभूता एव सर्वत्र प्रयोक्तव्या इति प्रतिपाद्यत इत्यर्थः । द्विगता इति । द्वावर्थौ गताः प्रयोजनद्वय-सम्पादका इत्यर्थः । तथा वाक्यान्यपीति । शब्दस्याप्यर्थवद् द्विगतत्वमित्यर्थः ।

अनुवाद—जैसे पहले कहा था । (आकृत्युपदेशात्सिद्धमिति) (वही) हो ।

और (हमारी ओर से) कहा गया था कि आकृत्युपदेश से ही यदि सिद्धि मानी जाये तो संवृतादि (दोषों में) प्रतिषेध करना होगा ।

इसका तो परिहार कर दिया गया था कि गर्गादि बिदादि पाठ से संवृतादि की निवृत्ति हो जायेगी ।

और जो गर्गादि बिदादि पाठ का तो अन्य ही प्रयोजन है ।

क्या ?

जिससे (तत्तत्) समुदायों का साधुत्व हो ।

तो फिर दोनों ही (कार्य) उसके द्वारा किये जाते हैं—पाठ को विशिष्ट किया जाता है और कलादि दोष निवृत्त किये जाते हैं ।

एक ही यत्न से दोनों प्राप्तियाँ कैसे हो सकती हैं ?

हो सकती हैं, ऐसा कहते हैं ।

कैसे ?

द्विष्ठ हेतु भी होते हैं । जैसे कि (आम्रवृक्ष के नीचे पितृतर्पण करने से) आम भी सिक्त हो जाते हैं और पितृतर्पण भी हो जाता है । इसी से वाक्य भी द्विष्ठ होते हैं—"श्वेतो धावति"=(श्वेत गुण वाला दौड़ता है, कुत्ता यहाँ से दौड़ता है) ।"

"अलम्बुसानां याता" (अलम्बुस) (देश को) जाने वाला, बुसों को प्राप्त करने वाला समर्थ है ।

उवा—अन्य सम्भावनाओं पर विचार करने के अनन्तर सिद्धान्ती पुनः अपने पूर्व निरूपित पक्ष का आश्रय लेता है । अर्थात् अवर्णादि की आकृति अपने से सम्बद्ध अन्य आकृति रूपों का भी ग्रहण करवायेगी । इससे प्रसक्त होने वाले संवृतादि दोषों की निवृत्ति गर्गादि बिदादि गणपाठों से हो जायेगी । इन गणपाठों का अतिरिक्त प्रयोजन होने पर भी सिद्धान्त पक्ष में कोई दूषण उत्पन्न नहीं होता । एक ही यत्न से दो फलों की प्राप्ति लोक में देखी जाती है । आम्रवृक्ष के मूल में पितरों को जल प्रदान करने से आम्रसिचन भी हो जाता है और पितृतर्पण भी । अर्थ की तरह से शब्दों में भी द्व्यर्थकता देखी जाती है । "श्वेतो धावति" उदाहरण में 'श्वेत' पद के दो प्रकार से अर्थ किये जा सकते हैं—(१) श्वेत गुण वाला और (२) श्वा+इतः इत्यादि । उसी प्रकार इन गणपाठों से समुदायों के साधुत्व का भी प्रतिपादन हो सकेगा और कलादि दोषों की निवृत्ति भी हो जायेगी ।

मूलम्—अथवा इदं तावदयं प्रष्टव्यः—"क्वेमे संवृतादयः श्रूयेरन्निति ।"
आगमेषु ।
आगमाः शुद्धाः पठ्यन्ते ।
विकारेषु तर्हि ।
विकारा अपि शुद्धाः पठ्यन्ते ।
प्रत्ययेषु तर्हि ।
प्रत्यया अपि शुद्धाः पठ्यन्ते ।
धातुषु तर्हि ।
धातवोऽपि शुद्धाः पठ्यन्ते ।
प्रातिपदिकेषु तर्हि ।
प्रातिपदिकान्यपि शुद्धानि पठ्यन्ते ।
यानि तर्हि ग्रहणानि प्रातिपदिकानि ।
एतेषामपि स्वरवर्णानुपूर्वीज्ञानार्थ उपदेशः कर्त्तव्यः । शशः षष इति मा भूत् । पलाश इति मा भूत् । मञ्जको मञ्जक इति मा भूत् ।—

आगमाश्च विकाराश्च प्रत्ययाः सह धातुभिः ।
उच्चार्यन्ते ततस्तेषु नेमे प्राप्ताः कलादयः ।।

(इति श्रीमद्भगवत्पतञ्जलिविरचिते महाभाष्ये प्रथमाध्यायस्य प्रथमपादे प्रथममाह्निकम्)

प्रदीपः—अथवेति । केवलानां वर्णानां लोके प्रयोगाभावाद्धात्वादीनां च शुद्धानां पाठात् तत्स्थत्वाच्च वर्णानां न कश्चिद्दोषः । यानि तर्हीति । डित्यादीनि ।

एतेषामपीति । शिष्टप्रयुक्तत्वेनोणादीनां पृषोदरादीनां च साधुत्वाभ्यनुज्ञानात् सर्वेषामत्र सङ्ग्रहः सिद्धः ।

इत्युपाध्यायजैयटपुत्रकैयटकृते महाभाष्यप्रदीपे प्रथमस्याध्यायस्य प्रथमपादे प्रथममाह्निकम्

अनुवाद—अथवा या इससे (संवृतादि दोषों की प्रसक्ति बताने वाले से) यह पूछना चाहिए कि ये संवृत आदि कहाँ सुने जाते हैं ।

आगमों में ।

आगम तो शुद्ध पढ़े गये हैं ।

तो विकारों में ।

विकार भी शुद्ध पढ़े गये हैं ।

तो प्रत्ययों में ।

प्रत्यय भी शुद्ध पढ़े गये हैं ।

तो धातुओं में ।

धातुएँ भी शुद्ध पढ़ी गई हैं ।

तो प्रातिपदिकों में ।

प्रातिपदिक भी शुद्ध पढ़े गये हैं ।

तो प्रातिपदिकों का उपदेश नहीं किया गया है ।

इनका भी स्वर वर्णानुपूर्वी के ज्ञान के लिए उपदेश करना चाहिए (जिससे) शश (के स्थान पर) षष न हो जाये, पलाश (के स्थान पर) पलाष न हो जाये, मञ्चक (के स्थान पर) मञ्जक न हो जाये ।

आगम, आदेश और प्रत्ययों सहित धातुएं शुद्ध पढ़ी गई हैं, अतः (इनमें) इन कलादि (दोषों) का प्रसङ्ग नहीं है ।

(इस प्रकार श्रीमान् भगवान् पतञ्जलि विरचित महाकाव्य में प्रथमाध्याय के प्रथम पाद में प्रथम आह्निक का अनुवाद समाप्त हुआ)

उषा—"छिन्ने मूले नैव पत्रं न शाखाः ।" इस समस्त विवेचन के अनन्तर भाष्यकार ने पूर्वपक्षी के मूल सिद्धान्त पर ही प्रहार किया है । सिद्धान्ती के अनुसार आगम, आदेश, प्रत्यय, धातु आदि सभी का शुद्ध उच्चारण किया गया है । अतः इनमें कहीं भी कलादि दोषों की प्रसक्ति प्राप्त नहीं होती । अतः इन दोषों की सम्भावना करना ही व्यर्थ है ।

एवं च सिद्धान्ती के द्वारा पूर्वप्रतिपादित इष्टबुद्ध्यर्थ वर्णोपदेश का पक्ष सिद्ध होता है ।

(इस प्रकार श्रीमान् भगवान् पतञ्जलिविरचित महाभाष्य में प्रथमाध्याय के प्रथम पाद में प्रथम आह्निक पर उषा व्याख्या समाप्त हुई)

———